ISSN 0975-5217
वर्ष 2011

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2011 अंक 4)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2011, अंक : 4

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 200/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 400/- रुपये / त्रैवार्षिक 1200/- रुपये

पंचवार्षिक 2000/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 450/- रुपये / त्रैवार्षिक 1400/- रुपये

पंचवार्षिक 2300/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मीनआर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 35 रुपये अधिक जोड़ें)

वितरक

शिवालीक प्रकाशन
27/16, शक्तिनगर, दिल्ली-110007
ईमेल - shivalikparakashan@yahoo.com

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायलाय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक

विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स
1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

Scanned with OKEN Scanner

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संतोष दत्तात्रेय राव परचूरे

एस.पी.एच. महिला कॉलेज, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, दरभंगा

डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, दरभंगा

शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

Scanned with OKEN Scanner

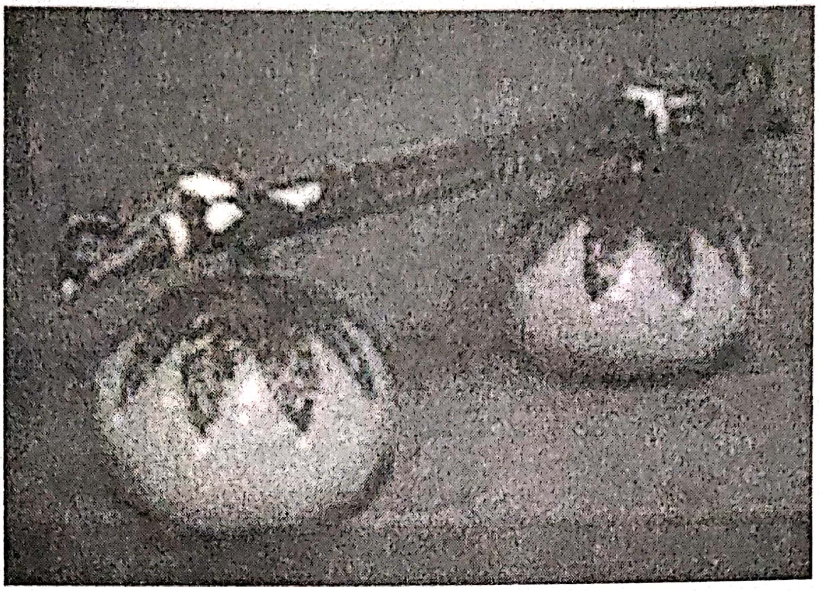

रूद्र वीणा

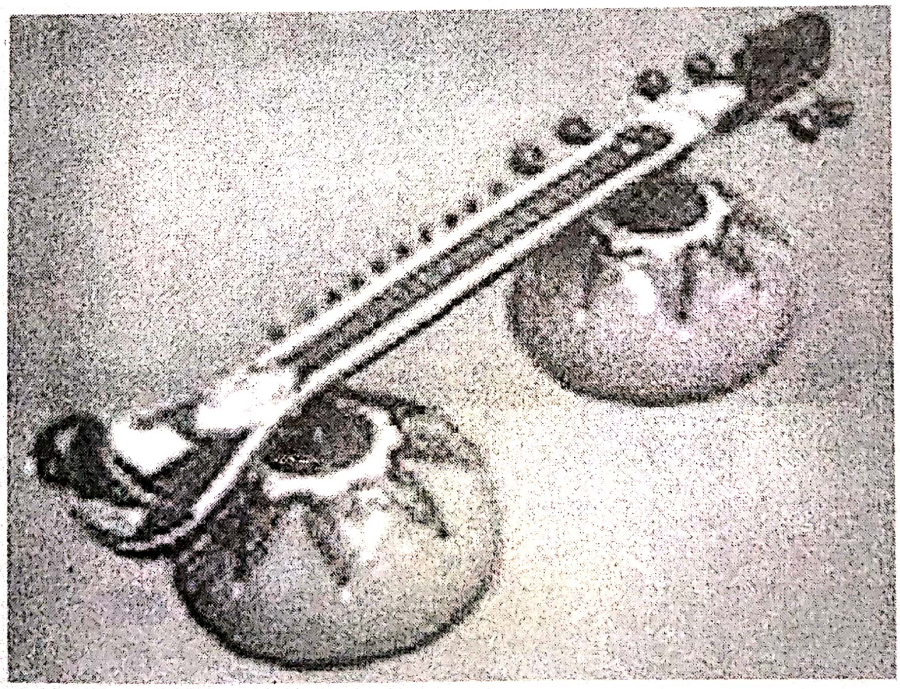

विचित्र वीणा

Scanned with OKEN Scanner

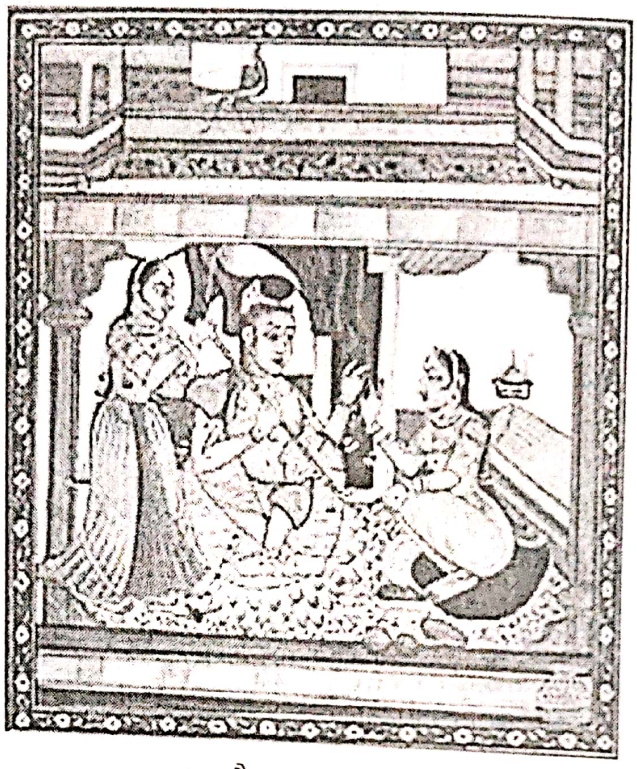

राग भैरव - ध्यान चित्र

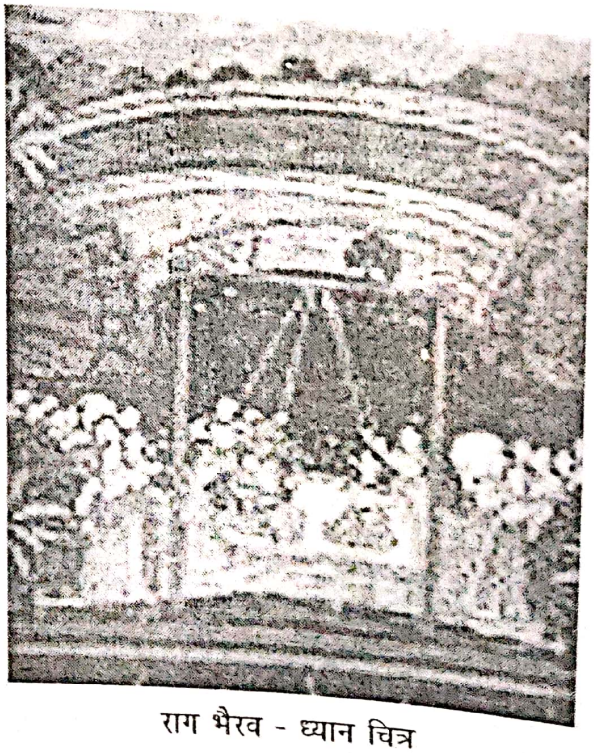

राग भैरव - ध्यान चित्र

Scanned with OKEN Scanner

संपादक की कलम से ...

विज्ञान एवं प्रयुक्ति की अप्रतिहत जय यात्रा और तज्जनित सामाजिक सांस्कृतिक और चिन्तनगत परिवर्तन, सर्वोपरि योगायोग और यातायात व्यवस्था में विप्लव और विधायन के परिणामस्वरूप समाज और संस्कृति की पुरानी संज्ञाएं अपनी अर्थवत्ता खो रही है। जीवन यात्रा की नयी दिशाओं के संधान के क्रम में बहुत कुछ पीछे छूट रहा है या छोड़ना पड़ रहा है, बहुत कुछ अपनाया जा रहा है या अपनाना पड़ रहा है। क्षेत्रीय सीमाएं कहीं टूट रहीं हैं, कहीं नये सिरे से उन्हें विन्यस्त किया जा रहा है। व्यावसायिक और पेशागत कारणों से एक क्षेत्र के लोग विपुल संख्या में दूसरे क्षेत्रों में बस रहे हैं, वहां की संस्कृति से प्रभावित हो रहे हैं और उसे प्रभावित कर रहे हैं। एक लोक समाज की संस्कृति में अनेक संस्कृतियों का संक्रमण हो रहा है। यह सब पहले भी होता था, किन्तु पिछले दशकों सांस्कृतिक आदान-प्रदान की अनायास प्रक्रिया विशेष रूप से तीव्र और गौरवान्वित हुई है। मिथिला अथवा अन्य क्षेत्र की संस्कृति या फिर लोक संस्कृति के विवेचन-विश्लेषण में किसी सांस्कृतिक उपादान के बारे में यह कहना कठिन है कि शतप्रतिशत विशुद्ध रूप में एक क्षेत्र का है। हां, यह अवश्य है कि किसी एक क्षेत्र की संस्कृति में उसी क्षेत्र का लोक समाज प्रत्यक्षतः मुखर हो। संस्कृति में ग्रहण-वर्जन और समन्वय का कर्मकाण्ड संपूर्ण होने पर उसका जो स्वरूप उद्‌भासित होता है उसमें लोक समाज विशेष की निजी पहचान कायम रहती है।

मिथिला की सांस्कृतिक विकास धारा की समस्त शाखाओं उपशाखाओं में वहां का लोकजीवन जो सभी में समाकर भी अपनी पहचान नहीं खोता, अनायास झलक जाता है। लोक संगीत, लोकगाथा, लोककाव्य, लोकोत्सव और ग्रामीण मेलों में मिथिला गूंजती रहती है। मिथिला की लोकलय पर फिल्मी धुन असर नहीं डाल पाती, लोकोत्सव अपनी रंगत किसी भी परिस्थिति में नहीं खोते। आचार-आचरण, गीत-संगीत, भोज्य-पेय, वेश-भूषा, हास-परिहास, और जीवन प्रणाली के विविध स्तरों पर मैथिल पहचान इतनी प्रखरता से उजागर होती है कि किसी भी जनगोष्ठी में मैथिल अलग से ही पहचान लिया जाता है। मछली-भात, दही-चूड़ा, व्यंजन-तीमन, पटुआ तिलकोड़ बथुआ, बड़ी-सकरौरी, तिलौड़ी-दनौरी, उड़द-अरहर, धान और आमों के रूपगुण के अनुसार सटीक नामकरण, विवाह और यज्ञोपवीत के मंडप, पात और ताल-मखाना, आंगन से सटी छोटी बगीची, जिसे मैथिली में बाड़ी कहते हैं, मैथिली भाषियों के जीवन से इस प्रकार, अविभाज्य हैं कि इन्हें मैथिल संस्कृति के सहज-स्वाभाविक उपकरणों के रूप में देखे बिना बात आगे नहीं बढ़ती। गोसाउन (देवी) के गीत, शिव-पार्वती से संबंधित और उन्हें संबोधित नचारी, लोरिक और सल्हेस की लोक गाथाएं-ढोल-मृदंग, झाल-मजीरा का बादन, होली, चैता, मधु श्रावणी को जागरा, वट सावित्री और चौठ चार के त्योहार, जितिया के व्रत उपवास, पार्वण और उद्‌यापन, बक्खो-पंवरिया, अहिबातक पातिल या पुरहर, सामाक पौती जट्‌टा-जट्‌टिन, सामा-चकेबा, नवान्न और जूड़ शीतल, चानन-ठोप-त्रिपुंड, रोहू मछली का मूड़ा और जाबीरी नींबू का रस, केले के पत्ते और आम्र पल्लव, अल्पना, भालरि और गृहसज्जा थे और ऐसे कितने ही उपकरण और तत्व मिथिला की संस्कृति को परिभाषित और व्याख्यायित करने में हमारी सहायता करते हैं। मिथिला में संस्कृति की पहली और अंतिम शर्त सुरूचि और सौन्दर्य-चेतना है। संस्कृति का प्रत्येक तत्व यहां सौन्दर्य बोध की उद्‌दीपित करता है।

Scanned with OKEN Scanner

मिथिला का उल्लेख यजुर्वेद, उपनिषद्, महाभारत सर्वत्र है। यह मात्र भौगोलिक इकाई नहीं है, सांस्कृतिक क्षेत्र है। मिथिला का यह चिरपुरातन और चिरनवीन ऐतिह्य उसकी संस्कृति के कारण जीवित जाग्रत है। मिथिलायां प्रदीप्तायां न में दह्यति किंचन।

ताल और लय, छन्द और पद, भजन और कीर्तन, कथा और किंवदन्ती, लोकोक्तियां और मुहावरे मिथिला की सांस्कृतिक समृद्धि के अनेकानेक स्तर और सोपान है। मिथिला की कथ्य भाषा और बोलचाल के लहजे में असाधारण व्यंजना शक्ति है। साधारण जन से सामान्य वार्तालाप के क्रम में काकु और वक्रोक्ति के दुर्लभ उदाहरण अनायास उपलब्ध हो जाते हैं। भाषा की यह व्यंजना शक्ति उसके लाक्षणिक प्रयोग का यह कौशल मिथिला की जनता को सहज भाव से सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त है। मिथिला की जनता उस समृद्ध संस्कृति की उत्तराधिकारी है, जिसकी जड़ें यजुर्वेद में है। मिथिला का समाज मुख्यतः ग्राम केन्द्रित समाज है, औद्योगिक प्रदूषण से लगभग मुक्त है। उसके मौखिक-लिखित साहित्य के अमोघ प्रभाव से अपनी संस्कृति अर्थात् मिथिला की संस्कृति के प्रति उसमें गंभीर अनुराग है यह अनुराग की गंभीरता ही उसमें स्वस्थ राष्ट्रीयतावाद का उन्मेष करती है और क्षेत्रीय संकीर्णता का मार्ग अवरूद्ध करती है।

जन्मस्थली मिथिला की भव्य भूमि होने के कारण मिथिला से मेरा अनुराग होना स्वाभाविक है। आप सभी विद्वतजनों को इस भूमि से थोड़ा बहुत परिचय कराना हमारा धर्म है क्योंकि भैरवी संगीत शोध पत्रिका का चतुर्थ सोपान अब आपके हाथ में है। संपादन क्रम में अमित धैर्य और दृढ़ संकल्प का अवलंब लेकर इस शोध पत्रिका को शास्त्र सम्मत, तर्क संगत और मर्यादापूर्ण बनाने की यथासाध्य चेष्टा की गई है। फिर भी संभव है कि विषय की विस्तृत भाव भूमि के कारण किसी अन्य प्रकार का दोष रह गया हो। मुद्रण संबंधी कठिनाईयों के कारण भी अनेक त्रुटियां रह जाती है। प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष इस अंक को प्रस्तुत करते हुए यही निवेदन करती हूं

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।
सुनिहहिं बालबचन मन लाई।।

पुष्पम नारायण

—डॉ॰ पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

Scanned with OKEN Scanner

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		7
1.	बाउल : एक सम्प्रदाय और गीत	*—प्रो. लिपिका दासगुप्ता*	11
2.	विद्यालयीन शास्त्रीय संगीत-शिक्षण की चिन्तनीय स्थिति	*—डॉ. (श्रीमती) ब्रजरानी शर्मा*	16
3.	टप्पा शैली, उद्‌गम और विकास	*डॉ. महारानी शर्मा*	20
4.	घराना शिक्षण पद्धति में गुरू-शिष्य परंपरा	*—डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे*	25
5.	संगीत एवं धर्म का अन्तःसम्बन्ध	*डॉ. ऋचा पाण्डेय*	30
6.	पुष्टि मार्गीय सम्प्रदाय में श्री सूरदासजी का सांगीतिक अवदान	*—डॉ. अश्विनी कुमार सिंह*	35
7.	संगीत का चित्रात्मक स्वरूप	*—डॉ. किरण सिंह*	38
8.	भारतीय संगीत में संस्कारों का महत्त्व	*—डॉ. प्रवीण उद्धव*	42
9.	ठुमरी में लोकतत्त्व	*—अंजू कुमारी*	44
10.	भारतीय परिप्रेक्ष्य में संगीत-धर्म के सन्दर्भ में	*—डॉ. अनिता रानी*	46
11.	अप्रचलित रागः शिक्षण, उपयोगिता एवं संरक्षण	*—डॉ. संगीता पण्डित*	50
12.	सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन	*—डॉ. वेणु वनिता*	53
13.	राष्ट्रीय एकता में संगीत की भूमिका	*—डॉ. माधुरी सिंह*	57
14.	विन्ध्य क्षेत्र के लोकगीतों में वर्षागीत	*—डॉ. बाबूलाल सिंह*	60
15.	मानव के जीवन शैली पर भारतीय संगीत का प्रभाव	*—पंकज राज*	63
16.	लोककला में 'लोक' की तलाश	*—चन्द्रशेखर प्रसाद*	67
17.	व्यक्तित्व के विकास में संगीत और योग की भूमिका	*—डॉ. डौली*	73
18.	भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डप की समीक्षा	*—अभय शंकर*	76
19.	संत रैदास की वाणियों का सांगीतिक महत्व	*—सुप्रिया कुमारी*	80
20.	संगीत साधना का योगमय स्वरूप	*—निर्भय शंकर भारद्वाज*	85
21.	नाटक का अभ्युदय और महत्त्व	*—डॉ. नरेन्द्र नाथ झा*	88
22.	उपशास्त्रीय संगीत पर काशी की लोक गायन शैलियों का प्रभाव	*—कुमारी रागिनी सरना*	90
23.	हवेली संगीत की परम्परा में राग	*—ज्ञानेन्द्र कुमार मिश्र*	92
24.	कोशी क्षेत्र की संगीत परम्परा में गायक मांगन	*—गिरिधर कुमार श्रीवास्तव 'पुटीष'*	94
25.	आधुनिक युग में संगीत शिक्षा : एक विश्लेषण	*—कृतानन्द पाण्डेय*	98

Scanned with OKEN Scanner

26.	भारतीय नाटक पर ग्रीक का प्रभाव	—मृदुला झा	101
27.	विभिन्न ललित कलाओं में संगीत का स्थान	—आकांक्षा शर्मा	103
28.	उत्तर भारतीय संगीत के वैदिक एवं प्राचीनकाल के अवनद्ध वाद्य	—अनामिका कुमारी	105
29.	"संगीत के तीनों विधाओं (गायन, वादन, नर्तन) का चिकित्सीय महत्व"	—अलका गिरि	107
30.	मध्यकालीन संगीत का इतिहास	—नूतन कुमारी	110
31.	कीर्तनियां नाटक के गीतों का शास्त्रीय अध्ययन	—डॉ. शीला झा	113
32.	संगीत के विकास में विज्ञान का महत्व	—डॉ. रेखा कुमारी	116
33.	मिथिला के विवाह गीतों की प्रासंगिकता	—निशि कुमारी	119
34.	सूरदास के पदों में संगीत	—राधामोहन मिश्रा	123
35.	भींडी बजार घराना मरहूम उस्ताद अमान अली खां साहब	—चिंतन मनोजभाई पटेल	126
36.	जीवन दर्शन एवं संगीत की शास्त्रीय परंपरा	—श्याम चैतन्य	128
38.	ऋतु एवं राग	—कामेश्वर कुमार	131
39.	राग और रस का संबंध	—कुमारी विभा	133
40.	वैदिक युग में संगीत	—कुमारी कंचन	135
41.	उत्तर प्रदेश में प्रचलित सावन लोकगीतों में रस, भाव भाषा एवं संगीत	—तृप्ति अग्निहोत्री	137
42.	गुजरात की लोक परंपरा की धरोहर है गुजराती लोक संगीत	—कुमार पंड्या	141
43.	संगीत का भक्ति स्वरूप और पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर	—आभा कुमारी	143
44.	Understanding Music : Sangitajna	—*Prof. Ritwik Sanyal*	146
45.	Literary Form of Art in Different Media	—*Trilok Singh Mehra*	148
46.	The Bamboo Flute Magician	—*Santosh Kumar*	151
47.	Transcription and Analysis of Vocals	—*Parul Dixit*	156

Scanned with OKEN Scanner

बाउल : एक सम्प्रदाय और गीत

प्रो. लिपिका दासगुप्ता

बंगाल और बाउल समाज संस्कृति की एक अभिनव संयोग है। बंगाल में हिन्दू और मुसलमान समाज में समानान्तर रूप से एक विशेष साधक गायकों को बाउल के रूप में चिन्हित किया जाता हैं कतिपय लोगों की अवधारणा है कि बाउल बैष्णव धर्मावलम्बी अथवा मुसलमान फकीर या दर्वेश के स्वरूप में इस्लामी समाज के एक नवीन सांस्कृतिक प्रजाती है लेकिन बाउल लोग मूलतः आउल, बाउल, दर्वेश और सांई चार प्रकार के लौकिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत समाहित है। बाउल साधना का एक सांकेतिक अर्थ है। बंग्लादेश के उपर विभिन्न धार्मिक मतों का प्रवाह लगातार दिखता आया है ऐतिहासिक विवेचन से हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, वैष्णव, नाथ आदि धार्मिक सम्प्रदायों के अनुरूप बाउल भी एक धार्मिक मतावलम्बी की शाखा है। बाउल का उद्‌भव लगभग 1625 ई. माना जाता है। बंगाल में हिन्दू, मुसलमान, शैव, बौद्ध, वैष्णव आदि सभी धार्मिक चेतनायुक्त मानच बाउल धर्म के प्रति अत्यन्त आकृष्ट हुये थे।

तथापि बाउल धर्म में मुख्य रूप से मुसलमानों की सूफी चेतना और हिन्दुओं की वैष्णव अवधारणा सामानान्तर रूप से समाहित दिखता है। इस धर्म में सांई अर्थात् प्रतीकात्मक ईश्वर की पूजा, उपासना प्रमुख है। विशेष रूप से गीत और नृत्य इस सम्प्रदाय के साधना का प्रमुख अंग है।

मानव जीवन के विभिन्न आकांक्षा को समग्र रूप से भोग के माध्यम से ही ईश्वर को समर्पित करना इस सम्प्रदाय में देह साधना के प्रति योनि मुद्रा अर्थात् त्रिकोण को "Δ" के प्रतीक स्वरूप साधना अनुसंधानिक (कउल) बाउल नाम से परिचित है। इस सम्प्रदाय के अवलम्बनकारी खुद को सनातनपंथी समानान्तर रूप से वर्तमान पंथी वस्तुवादी मार्फती और साधु के रूप में खुद को परिचित करते है। इस सम्प्रदाय में स्वनिर्मित देवता या कल्पना आधारित देवी-देवता, अपदेवता मृत व्यक्ति, कब्र, दर्गाह कहीं जाकर भी उपासना या पूजा नहीं किया जाना अभिप्रेत है। यह मुख्य रूप से मानव देह को ही या मानव तत्व को ही प्रमुख मानते हुये जीवित इंसान की सेवा पूजा करते है। इनके साधना स्तर में शास्त्र व्रत, उपवास, जातिभेद, ईश्वर परलोक, जन्मान्तर साधना उपासना, स्थान का कोई अहमियत नहीं है बल्कि बाउल का साधना स्थल मानसिक है। वे मन ही मन उस मूल आनन्द के स्रोत या ब्रह्मानन्द की साधना करते है।

बाउल सम्प्रदाय की अन्य विशेषता यह भी है कि देहतत्व की रज और वीर्य के संयोग में अमृत की खोज किया जाता है। इस साधना के अंग के रूप में नारी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है और नारी ही पूजा का एक स्वरूप है। मूल रूप से बाउल एक धर्म से अधिक जीवन की एक भावधारा है। इस सम्प्रदाय में सृष्टि में मानव ही श्रेष्ठ हैं मानव से उपर और कुछ भी नहीं। इस भावना का आध्यात्मिक तथ्य यह है की जब मानव का जन्म होता है तो वह क्रन्दनरत रहता है क्योंकि एक विरह उसे रोने में मजबूर करती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही एक स्वरूप है मानव उसी का अंग है या दूसरे शब्दो में परमात्मा एक पूर्ण स्वरूप है। और मानव की आत्मा उसका एक सूक्ष्म अंश है। इसलिए जब मानव का जन्म होता है तो जीवात्मा परमात्मा से विछोह के लिए

अध्यक्ष, संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

दुःखी हो जाता है। और यही विछोह जीवात्मा के मन में स्थायी रहता है। और सम्पूर्ण जीवन वह परमात्मा के खोज में स्वयं को समर्पित पाता है। इस खोज में जीवात्मा "मोनेर मानुष" के रूप में परमात्मा को खोजता है और इसी खोज के तहत कई स्तरों से गुजरता है। अलौकिक मानवीय भावों को मोनेर मानुष की खोज में व्यक्त करना ही बाउल गीत का मुख्य आशय है।

शास्त्रगत विभिन्न नियमों का परिपालन बाउल धार्मावलम्बी अस्वीकृत करते है। बाउल के अनुसार मानव देह में ही परमपुरूष का निवास है। और बाउल की आकांक्षा उस देहगत परमपुरूष का अनुसंधान होता है। खुद को पहचानने की साधना ही बाउल की मूल अवधारणा है। ऐसा माना जाता है कि जिस ईश्वरीय चेतना को दृश्यतः देखना पकड़ना असंभव हैं। उसे ईश्वरीय स्वरूप को जानने समझने के लिए बाउल नृत्य गीत के माध्यम से साधना में स्वयं को निवेदित करते है। ईश्वर और मानव की व्यवधान को सांगीतिक चेतना से पार करना ही बाउल साधना का मूल उद्देश्य है। "सोहअहं" अर्थात् मैं ही ओ हों जो इंसान स्वयं को पहचानता है या पहचानने में सक्षम होता है वही ईश्वर को समझ सकता है। ईश्वर या खुदा मानव के हृदय में है और जो आन्तरिक तह में समग्र चेतनाओं में व्याप्त है। उसे बाहर ढूढंना व्यर्थ है। इसी अवधारणा को मूलमंत्र मानकर बाउल संगीत के माध्यम से अपने साध्य, आराध्य को अनुभूतियों के माध्यम से जानने, समझने की ओर निरन्तर प्रवाहमान रहती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से अगर विवेचन किया जाये तो यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में बंगाल में इस्लाम धर्म का अत्यन्त बोलबाला था। मुसलमानों का एक सम्प्रदाय अत्यन्त उदारपंथी थे। जातिभेद, वर्णभेद की प्रथा को अस्वीकृत कर वे शान्ति और मैत्री की आदर्शों में प्रेरित होकर सूफी धर्म का निर्माण कर चुके थे। सामानान्तर रूप से हिन्दुओं में चैतन्य महाप्रभु और वैष्णव सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव रहा निराकार ईश्वर और सम्पूर्ण संसार में एक मात्र गुरू ही मानव को उर्द्धगति में प्रेरित करने की सहायक रूप में माने जाते है। मुसलमानों की सूफी सम्प्रदायों में गुरूओं का अत्यन्त महत्व रहा है। और वैष्णव सम्प्रदाय में गुरूओं का अत्यन्त महत्व रहा है। इन दोनों का ही मिलाजुला स्वरूप बाउलों की सम्प्रदायों में दिखती है।

सुप्रसिद्ध बांग्ला साहित्यकार डा. सुकुमार राय के मतानुसार बाउल धर्म या सम्प्रदाय मूल रूप से प्राचीन हिन्दू धर्म के आधार पर प्रतिष्ठित है किन्तु इसमें मध्यकालीन इस्लामी सूफी सम्प्रदाय का सम्पुट भी रहा। बाउल का प्रथम विकास महायान बौद्ध शाखा की नास्तिक अवधारणाओं के साथ सामंजस्य पूर्ण रहा है। जहां मानव की सत्ता को समझना उसके देह और मन को जानने से ही परिपूर्ण होता है देह में जो मन है उसी का अनुसंधान प्रमुख है। बाउल देह का सोधन करते हुये योग तांत्रिक पद्धतियों का अनुसरण करता है और षडचक्र भेद की सहज प्रतिकी साधना करता है यह साधना अत्यन्त गुह्य और गोपनीय होती है। बाउल के द्वितीय विकास काल नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध आचार्यो के गुरू पद्धति में निहित है। यौगिक पद्धति में गुरू की सहायता से साधना ही इस समय से प्रमुख रहा है। 13वीं और 14वीं शताब्दी से गुरूवाद बाउल में प्रमुख रूप से दिखता हैं। साथ ही उस समय सूफियों का प्रभाव भी बाउल साधना में मिलता है। शरीर के स्वरूप में जीवन को समझना और उस शरीर में स्थित परमात्मा का अनुसंधान ही इनका मुख्य साधना रहा गीत संगीत इस साधना का मुख्य अंग रहा। मुसलमान बाउल गुरू के चार स्तर को मान्य करते थे।

1. पीर 2. मूरशीद 3. सांई 4. दर्वेश

पुनः वैष्णव बाउल सम्प्रदाय भी इस गुरू परम्परा को मान्य करने लगे इस सम्प्रदाय के लोग चैतन्य महाप्रभु जयदेव इन सबको बाउल गुरू के रूप में स्वीकार करते है। बाउल के मतानुसार मन्दिर, मस्जिद कहीं भी खुदा या ईश्वर नहीं रहता है बल्कि ईश्वर का निवास देह में स्थित मन में है। इसलिए मन के मानुष का खोज ही साधना का मूल अंग है। बाउलों का सम्प्रदाय में विभिन्न गुरू और पदकर्ता जिन पर विशेष रूप से स्वतंत्र अध्ययन आवश्यक हैं इसलिए विस्तार भय के कारण उस पर अभी चर्चा नहीं की जा रही है।

Scanned with OKEN Scanner

बाउल गीत बंगाल की अत्यन्त प्रचलित और साधना के संगीत के रूप में प्रचलित रहा है। बाउल गान में जीवन की हर एक अनुभूतियें को प्रतिकात्मक स्वरूप में मोनेर मानुष को कहना ही मूल विषय वस्तु है। बाउल गीति के विषय वस्तुओं को मुख्यतः 9 भागों में विभक्त किया जा सकता है-

1. जीवन कथा श्रेणी- अर्थात जीवन की हर एक पहलुओं को मोनेर मानुष से कहना

2. तत्वगीति - गुरू, देवता, मनुष्य हर किसी को समझने की तत्व सन्दर्भित अभिव्यक्ति का गान

3. साधन मार्गी भक्ति गीति- साधना के विभिन्न स्तर को गीतों के माध्यम से भाषा के आश्रय लेकर स्पष्ट करते हुये गान करना।

4. प्रतीकधर्मी गीत- जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने प्रिय को या ईश्वर को भिन्न प्रतीकों के माध्यम से कहना बाउल की प्रतीकधर्मी गीतियों में सम्मिलित है।

5. चित्रधर्मी गीत - शब्द चित्र के माध्यम से भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति का गान

6. रूपकधर्मी गीति- कोई भी सामान्य घटना को रूपक के रूप में प्रस्तुत कर आध्यात्म की गुणतम विषयों को गीत के माध्यम से स्पष्ट करें

7. पत्रगीति-पत्र के स्वरूप में गेय तत्व को प्रस्तुत करना

8. भजन गीति- ईश्वर आराधना या भजन के स्वरूप में गान

9. विपरीत धर्मी गीति- इसमें विपरीत भावनाओं को सकारात्मक रूप में गेय स्वरूप में मोनेर मानुष के उद्देश्य से प्रस्तुत करना इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वरूप में गीतों के माध्यम से मोनेर मानुष के साथ भावनात्मक संयोग या भाव सम्प्रेषण की अभिव्यक्ति बाउल गीत के मुख्य गेय विषय वस्तु है।

बाउल गान में जीवन के प्रत्येक पहलुओं आजीविका जीवन का चरित्र, जीवन संचालन के विविध आयाम धर्म, रीति, नैतिक आचार, आचरण सभी प्रकार के संवेदनात्मक अनुभूतियों का अभिव्यक्ति दिखता है। इसलिए बाउल गान बंगाल में अत्यन्त प्रचलित है।

मोनेर मानुष को खोजना और उस खोज के अन्तर्गत स्वयं को समझना ही बाउल धर्मावलम्बी गायक गुरू आचार्यों का मुख्य उद्देश्य है। जाति, वर्ण, भिन्न धर्म हर बन्धन से मुक्त मात्र मानव और मानवीय चेतना को जानने समझने की दिशा में मोनेर मानुष को समर्पित बाउलों का मानवीय गीत ही बाउल गान के रूप में परिचित है।

बाउल सम्प्रदाय में एक उपर से नीचे तक देह को ढकता हुआ वस्त्र पहनने की प्रथा हैं और बाउल गायकों के साथ एकतारा और डुगी बजाने की विशेष प्रथा है। मुख्य रूप से बाउल गान के साथ एकतारा, बाया और गोपी युत्र संगत के रूप में बजाया जाता है इसे अतिरिक्त खमक, दोतारा, नुपुर, प्रेमजुरी, सारिन्दा, बांसुरी, आदि वाद्य यंत्रों का भी बाउल गान में प्रयोग किया जाता हे। बाउल गान के साथ नृत्य की भी प्रथा है। गायकगण विभिन्न लयताल में भिन्न अंग भंगियों के साथ नृत्य के साथ प्रस्तुत करते है। यद्यपि शास्त्रीय संगीत की भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों का शुद्ध रूप से बाउल गान में प्रयोग नहीं होता हैं तथापि विभिन्न राग-रागिनियें का स्वरूप बाउल गान में यदाकदा स्पष्ट होता रहता है।

बाउल गान या बाउल के भावनात्मक स्वरूप विश्लेषण में कवि गुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'बाउल गान' प्रबन्ध से भी बाउल सम्प्रदाय के आध्यात्मिक चिन्तन को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। उनके मतानुसार भारतीय ऋषि मुनियों की उपनिषदीय पन्ता के साथ बाउलों के निरक्षर साधकों की साधना में अत्यन्त सामंजस्य है। जिस प्रकार उपनिषद में स्पष्ट किया गया है कि "त्वं वेद्यं पुरूषं वेद्यं वेदमावो मृत्युः परिव्यथाः" अर्थात् जिसको जानना चाहते हो उस पुरूष को जानो और उसे न जान पाने की अनुभूति ही मृत्यु तुल्य है। और यही अकांक्षा बाउल सम्प्रदाय में भी स्पष्ट है की मोनेर मानुष को खोजा जाय। और वह मोनेर मानुष स्वयं के हृदय में अवस्थित है उसे ढूंढ कर उसके अनुभूति को, सानिद्ध को पाकर ही सन्तुष्टि मिल सकती है अन्यथा दुःख ही परिप्राप्त रहती है। मूलतः मानव को स्वयं के अन्दर ही परमात्मा के चिरन्तर सत्य स्वरूप को जानने का आग्रह बाउलों की साधना का प्रमुख विषय है।

Scanned with OKEN Scanner

सन् 1933 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय में कमला व्याख्यान माला के तहत मानव का धर्म विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत करते हुये रवीन्द्रनाथ ने बाउल सम्प्रदाय के मोनेर मानुष तथ्य को अभिहित करते हुये स्पष्ट किया था कि मानव के लिए देवता उसी मानव का मोनेर मानुष है। जब इंसान ज्ञान की दिशा में भावनात्मक रूप से सत्कर्म सहित अग्रसरित होता है। जीवन के हर पहलू में पारदर्शी शुभ और सच को अपनाता है। तो वह मोनेर मानुष के निकट पहुंचता है। सच्चाई जितनी अधिक होगी, मानव अपने मोनेर मानुष को उतनी निकटता से अनुभूत कर सकेगा। आन्तरिक मानस पक्ष में जब विकार या कोई भी सांसारिक कारणों से नकारात्मक सोच का अन्धकार व्याप्त होता है तो स्वतः ही मोनेर मानुष की दृष्टिगत अथवा अनुभूति की स्तर पर नहीं रहता है और उसे खो कर मानव व्याकुल होता है क्योंकि जब हम स्वयं को धन, ख्याति और विविध प्रकार की भोग वादिता में सम्पन्न होने की संभावनाओं को तलाशते है तो स्वतः विभिन्न विवाद दुःख अप्राप्ति का अनुभव मानव के हृदय को शोक और अश्रु का उपहार देता है क्योंकि मोनेर मानुष तो अन्तर में है, स्वयं की आन्तरिक स्वच्छ अनुभूति युक्त ईश्वरीय विकास में है। स्वाभाविक है कि बाह्य जगत में उसे ढूंढना ही मूर्खता है। इसलिए बाउल गाते है–

आमी कोथाय पाबो तारे
आमार मोनेर मानुष जेरे
हराय सई मानुषे तार उद्‌देश्य
देशे -देशे बैराई घुरे

अर्थात् मैं उसे कहां पाउं जो मेरे मोनेर मानुष है उसे खोकर ही मैं देश विदेश में घूमता फिर रहा हूं। पुनः बाउल स्वयं मानो गीत के माध्यम से उत्तर देता है कि - **मोनेर मोद्धे मोनेर मानुष करो अन्वेषण**

अर्थात् मन में ही मन का मोनेर मानुष है उसे ढूंढ निकालों या उसकी खोज करों। इस प्रकार बाउलों की गीत संगीत में ही सांकेतिक भाषा में अत्यन्त गंभीर अध्यात्मिक प्रकाश रवीन्द्रनाथ ने अनुभूत किया इसलिए उनकी रचनाओं में भी बाउल गीत और बाउल सम्प्रदाय के आध्यात्मिक प्रकाश स्पष्ट रूप से दिखता है।

बंगाल में प्रमुख बाउल गीत कर्ताओं में गोड़ा पागला, हर गोविन्द, श्यामानन्द, लालनशाह, गगन हरकरा, और नरहरी नरोत्तम प्रमुख थे। वर्तमान समय में ख्यापानवीन दास और उनके पुत्र पूर्णदास बाउल का अत्यन्त ख्याति है। सभी बाउल गायक अपनी उदात्त कण्ठस्वर स्पष्ट उच्चारण और भावानुरूप गायन परम्पराओं में अत्यन्त पटु होते है। बाउल गीतों के माध्यम से सुनिश्चित रूप से एक आध्यात्मिक चेतना के साथ ही सांसारिक पांच ऋपु का उत्पात और उससे निजात पाने की विभिन्न अवधारणा और विभिन्न रास्तों को सांगीतिक विभव के साथ प्रस्तुतीकरण के माध्यम से समाज को सदैव जागृत करने का कार्य किया जा सकता है।

अन्त में कतिपय बाउल गीतों का संकलन और भाव पल्लवन बाउल गान की पूर्णता को स्पष्ट करने में सहयोगी हो, इसी आशय से तीन बाउल गीतों का संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

देखछि रूप सागरे मनेर मानुश कांचा सोना
(तारा) धरि धरि मने करि धरते गेले धरादेय ना।
से मानुष चेये चेये घूरछे पागल हये,
(मरमे) ज्वलछे आगुन आर निभेना,
एखन बले बलुक, लोकमन्द, विरहेतार प्राणा बाचेना।
(पथिक) आर भेषो नारे, डूबे जाओ रूप सागरे
निरले बसे कर योग साधाना
एबार धरते पेले मनेर मानुष, चले जेते आर दिओ ना।

अर्थात् मैने अपने हृदय में प्रियतम की छवि उतारी है उन्हें छूने जाउं तो वह पकड़ में नहीं आता इसलिए उनकी चाह में पागलों सी घूम रहीं हूं। मेरा हृदय उनके विरह से जल रहा है। अब चाहे दुनिया मुझे बुरा कहे मेरा तो विरह से प्रान ही निकल रहा है। अन्त में बाउल सुझाव देता है कि अब और मत सोचो एकान्त में बैठकर उस प्रियतम (ईश्वर) की साधना करो और जब मन चाहा मनुष्य पकड़ में आ जाय तो उसे कभी भी मत छोड़ो।

चीनी चीनी मोन तारे
तुमी चेनोनी मोन तारे

Scanned with OKEN Scanner

जेजोन तोमार दिल पिंजरे
दिवा निशी विराज करें
जखोन अल्लाह परवोआरे
सृष्टि कारलेन आदो मेरे
आब आतोश बाताश दिये खागे मिलन करें।
हुकुम कोल्लेन तरे रूहो
जाओ कल्पो पुरे
तखोन अन्हरिया घर देखिया
कांछे रूहो कतोर सरे
तखोन कान्ना सुने बोलछेन खुदा
आमी नोही तोमाय जुदा
जथाय तुमी तथाय आमी
भय करे मन कारे
हावार रूप धोरिया खोदा
बोसीले बाम बासेन
तखोन देखे आदोम भजे हरदम
झलोक मारे धोरी बारे

इस गीत में अत्यन्त सुन्दर रूप में बांग्ला और उर्दू भाषा का मिश्रण है। साथ ही मुसलमान सम्प्रदाय के खुदा अल्लाह को सर्वेसर्वा सृष्टिकर्ता मानकर एक फकीर का मानवीय अभिव्यक्ति स्पष्ट किया गया है कि हे मन तुम उसको नहीं जान सके जो तुम्हारे हृदय में जो भी है जब ईश्वर ने मानव की सृष्टि की थी स्त्री पुरूष का मिलन कराया उसके पहले रूह (आत्मा) को कहा, जाओ अन्तःपुर में निवास करों तब रूह अन्तःपुर के अन्धेरे से डर गया और वह रोने लगा तो खुदा ने कहा किससे डर है। तुम जहां हो मैं भी तो वहीं हो, इसलिए निर्भय रहों मैं एक वायु के रूप में तुम्हारे साथ हरदम रहूंगा और मेरी झलक तुम्हें सदैव मिलेंगी। इस गीत में मुख्य आशय यही है कि आत्मा मानव मन की सांसारिक कुटिलताओं से दुःखी होती है तो ईश्वर की साकारात्मक संवदेना और चेतना ही उत्कर्ष की ओर प्रेरित करती हैं।

अत्यन्त सुप्रसिद्ध बाउल गीत जिसमें बाउल सम्प्रदाय के गुरूओं के मूल मंत्र या तथ्य संकलित है। उसे लिपिबद्ध किया जा रहा है।

कोथा कए से देखा दैना
हाथेर काछे नाड़े चड़े खुजले जन्म भर मेलेना
हुजी तारे आसमान जमीन आमाते खुजीनी आमि गो।
एकी भीपोण गुले भ्रमे आमी के आर से कोन जाना

अर्थात् वह बोल रहा है दिख नहीं रहा है अर्थात् अनुभूति उनकी निरन्तर मिल रही है लेकिन उसे छूकर देखा या दिखाया नहीं जा सकता। मानो वह मेरी हाथो के पास है या मेरे अगल बगल है लेकिन जब भी मैं उसे ढूंढने निकलू वह मुझे नहीं मिलता, में उसे सम्पूर्ण आसमान जमीन, पाताल हर जगत ढूंढता हूं लेकिन कभी भी अपने अन्दर ढूंढने की कोशिश ही नहीं किया था। अरे! यह कैसी भूल है कि वह कौन है और में कौन हूं अर्थात हम दोनों ही अलग-अलग है। इसप्रकार यह गीत बाउल की आध्यात्मिक गूढ़ तथ्य को स्पष्ट करता है।

अन्त में यही स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है बाउल संगीत सुनिश्चित रूप से एक अत्यन्त उच्च कोटि की आध्यात्मिक भावनात्मक स्वरूप का सांगीतिक गीत प्रकार है। जिसे बंग्लासंगीत का एक अपूर्व धरोहर के रूप में मान्य किया जा सकता है। बाउल के पद और स्वरसंयोजन की अनुपम मिश्रण सहित मोनेर मानुष को खोजने की प्रक्रिया में गेय गीत सुनिश्चित रूप से मोनेर खूब काछेर' अर्थात मन की बहुत निकटतम संगीत संरचनाओं में अनन्य है।

सन्दर्भ :

1. भट्टाचार्या, उपेन्द्रनाथ, बांग्लार बाउल ओ आउल गान, कलकत्ता, 1957।
2. पाल, अमर, दुलाल चौधरी, (सम्पा.) बांग्लार लोक संगीत, कलकत्ता, 1984।
3. चक्रवर्ती, वरूण कुमार, बंगीय लोक संस्कृति कोश, कलकत्ता, 1995।
4. चौधरी, दीनेन्द्र, पूर्व बांग्लार लोक संगीत, कलकत्ता, 1997।
5. राय, सुकुमार, लोक संगीत जिज्ञास, कलकत्ता, 1983।
6. ब्रह्म, तृप्ती, लोकजीवने, बांग्लालौकिक धर्म संगीत ओ धर्मीय मेला, कलकत्ता, 1989।
7. भट्टाचार्या, श्री आशुतोष, रवीन्द्रनाथ ओ लोक साहित्य, कलकत्त, 2002।
8. दासगुप्ता, लिपिका, बंगाल के नवजागरण का संगीत, मनीष प्रकाशन, वाराणसी, 2006।

Scanned with OKEN Scanner

विद्यालयीन शास्त्रीय संगीत-शिक्षण की चिन्तनीय स्थिति

डॉ. (श्रीमती) ब्रजरानी शर्मा

माता रूद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय या गामनागमदिति वधिष्ठि

अर्थात विद्या राष्ट्र में वसु आदित्य तथा रूद्र जैसे वेदाध्याय विद्वानों को उत्पन्न करती है तथा समृद्धि और आनन्द मंगल को राष्ट्र में बांधकर रखती है ये विद्या कभी राष्ट्र को क्षीण नहीं होने देती। अतः इसका प्रचार करो, शिक्षा व्यक्ति में शौर्य, उत्साह तथा वीरता आदि गुणों का विकास करती है जो परीक्षतः राष्ट्र की स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा के लिए उत्तरदायी है।

शिक्षा व्यवस्था एवं सामाजिक व्यवस्था एक दूसरे के पूरक रहे हैं और सामाजिक व्यवस्था में बदलाव के साथ-साथ शिक्षा व्यवस्था का स्वरूप स्वतः ही परिवर्तित होता रहा है। शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि वह समाज की आयु के साथ बढ़ती रहे, समाज के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहे, समाज में अपना प्रभाव फैला सके और उस पर समाज का प्रभाव हो।

लोकतंत्र के इस युग में संगीत एक विषय के रूप में शैक्षणिक संस्थाओं में सिखाने की व्यवस्था है। विश्वविद्यालय स्तर तक संगीत सभी सुसभ्य और विकासशील देशों के समाज में पाठ्यक्रम का विषय बन गया है। संगीत के प्रचार व प्रसार की दृष्टि से आधुनिक काल को अग्रणी मानना चाहिए। स्कूल, कॉलेज एवं विश्वविद्यालय में संगीत विषय का चयन, सरकारी अनुदान, संगीत सभायें एंव चलचित्र जगत में शास्त्रीय संगीत, आदि संगीत कला की उन्नति के विविध सोपान हैं।

संस्थागत संगीत शिक्षण के द्वारा संगीत को सर्वसाधारण में लोकप्रिय बनाने तथा उसका विस्तृत रूप से प्रचार व प्रसार करने में युगदृष्टा श्री विष्णु दिगम्बर पुलस्कर तथा श्री विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने घराने दार संगीत शिक्षण में आवश्यक परिवर्तन करते हुए संस्थागत शिक्षण पद्धति तथा विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्धारण करके संगीत कला को एक विषय के रूप में विश्वविद्यालय प्रॉगण में, अन्य विषयों के समकक्ष खड़ा कर दिया। इससे संगीत में शोधात्मक प्रवृत्ति को मजबूत आधार मिला।

भावी युग की परिस्थितियों, आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के पद्धति उत्तरार्द्ध में संस्थागत शिक्षण पद्धति का प्रयास आरंभ किया गया। इस क्रम में सन् 1880 के आसपास पन्नालाल जी ने दिल्ली में 'सितार शिक्षा विद्यालय खोला'। सन् 1885 के आस-पास पं. आदित्यराम ने संगीत विद्यालय में संगीत शिक्षण का प्रयास किया । सन् 1886 में बड़ौदा, सन् 1901 में पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर द्वारा लाहौर में गन्धर्व महाविद्यालय की स्थापना हुई। यह एक ऐसी संस्था है, जिसने संगीत के क्षेत्र में मूलगामी परिवर्तन करने वाला विकास साधा। संगीत की शिक्षा के लिए 1918 में ग्वालियर के प्रख्यात 'माधव संगीत महाविद्यालय' की स्थापना 'श्रीमान माधव राव सिंधिया' ने की। सन् 1926 में लखनऊ में मैरिस कॉलेज ऑफ 'म्यूजिक' तथा इसी वर्ष इलाहाबाद में सर्वश्री बैजनाथ सहाय, दक्षिण रंजन भट्टाचार्य, मेजर रणजीत सिंह के प्रयत्न से प्रयाग संगीत समिति का शुभारंभ हुआ। संगीत शिक्षा के महत्व को समझते हुए कालान्तर में 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय', 'इलाहाबाद विश्वविद्यालय' तथा 'इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़' ने संगीत

एसो.प्रोफेसर-संगीत विभाग, टीकाराम कन्यामहाविद्यालय, अलीगढ़

Scanned with OKEN Scanner

को अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया। तत्पश्चात भारत के अन्यान्य विश्वविद्यालयों दिल्ली, मुम्बई ग्वालियर, आगरा, दरभंगा राजस्थान, वनस्थली आदि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में संगीत को एक विषय के रूप में प्रतिष्ठा मिली। कुछ विश्वविद्यालयों में संगीत तथा ललित कला के संकाय भी खुले, जिसमें एम.म्यूज, डीम्यूज तथा शोध तक की व्यवस्था है। अब तो देश के सभी छोटे बड़े नगरों में संगीत की शिक्षा व्यवस्था तथा परीक्षायें संचालन हेतु संगीत मंडल, संगीत समिति की स्थापना भी राज्य शासन द्वारा की गई है। इस प्रकार देश के कोने-कोने में संगीत विद्यालयों सम्बद्ध संस्थाओं का जाल सा फैल गया है।

जिस संगीत शिक्षा के लिए सीखने वाले को भगीरथ जैसा तप करना पड़ता था अलाउद्दीन खॉ जैसे श्रेष्ठ मेधावी कलाकार को भी रामपुर के उस्ताद वज़ीर खॉ के शिष्यत्व प्राप्ति के लिए अफ़ीम की पुड़िया से आत्महत्या तक का प्रयास करना पड़ा, जिस संगीत को सीखने के लिए उस्ताद की आजीवन सेवा करनी पड़ती थी, वही संगीत संस्थागत पद्धति से सहजम्य हो गया। किन्तु संस्थागत शिक्षण पद्धति से जहॉ एक ओर संगीत सहजम्य हो गया वहीं विश्वविद्यालयीन स्तर में संगीत कक्षाओं की चिन्तनीय स्थिति वर्तमान संगीत शिक्षण की एक बड़ी समस्या है। शिक्षाविद् अनुदान आयोग तथा प्रबन्धन तीनों इस समस्या के लिए उत्तरदायी हैं। संगीत विषय की अर्हता अभिरूचि-क्षमता का न कोई मापदण्ड निर्धारित है न प्रवेश परीक्षा ली जाती है। संगीत कक्षा के द्वार सभी के लिए उदारता पूर्वक खुले हैं। अन्य विषयों की भॉति संगीत विषय में भी शिक्षा विभागों का नियन्त्रण होने के कारण संगीत शिक्षा के शिक्षण में वे सभी नियम लागू किये जाते हैं जो अन्य विषयों के शिक्षण प्रणाली में। किन्तु संगीत शिक्षण अन्य विषयों के शिक्षण प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। यही कारण था कि प्राचीन काल में संगीत की शिक्षा के लिए विद्यार्थी का प्रवेश अत्यन्त दुर्लभ था। प्राचीन काल में गुरू शिष्य परम्परा का प्रचलन था, उस समय मुद्रण कला अस्तित्व में नही थी सिर्फ स्मरण शक्ति बुद्धिमत्ता और कड़ी मेहनत से यह कला सिखाई जाती थी। गुरू किसी शिष्य को तभी इस कला की शिक्षा को प्राप्त करने की स्वीकृति देता था जब वह उस शिष्य की इस कला को व्यक्त करने की क्षमता देख और परख लेता था। संगीत सीखना हो तो वर्षो उस्ताद के घर रह कर उनकी सेवा करनी पड़ती थी। संगीत एक संजीवनी बूटी की भॉति था, जिसकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए द्रव्य के साथ जीवन का मूल्य भी चुकाना पड़ता था। संगीत शिक्षण की इतनी जटिल समस्या इस कारण भी थी कि उस समय संगीतज्ञ राजा, महाराजाओं, सुल्तानों और बादशाहों आदि के आश्रित हुआ करते थे। राजाश्रित होने के कारण कलाकारों को अपनी जीविका की चिन्ता नहीं थी, वह पूर्ण रूप से अपनी कला के प्रति समर्पित रहते थे और गुरू सच्चे मन से ब्रह्म की उपासना करके उसके सूक्ष्म भेदों और रहस्यों को अपने शिष्य को आत्मसात, कराता था। गुरू का यह प्रयास वर्ष दो वर्ष नहीं अपितु वर्षो तक चलता था। यद्यपि उस समय का संगीतज्ञ आज के संगीत शिक्षकों की भॉति इतना पढ़ा लिखा न था किन्तु संगीत के क्षेत्र में उसका गूढ़ गहन और गंभीर रियाज़ रहता था। वह कहीं से भी कैसा स्वर निकाले स्वर सच्चा व असरदार निकलता था। गुरू के स्वर का यही असर पीढ़ी दर पीढ़ी शिष्यों में चला करता था जिसे संगीत की सच्ची तालीम कहते हैं।

यद्यपि विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षण के फलस्वरूप आज संगीत राज दरबारों के बन्धन से मुक्त होकर उन्मुक्तता की सांस ले रहा है और सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो गया है। घरानेदार संगीत शिक्षण में प्रायः खानदानी व्यक्ति ही संगीतज्ञ हो सकता है, इस संकुचित विचारधारा को विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षा ने मिथ्या सिद्ध कर दिखाया है। घरानेदार संगीत शिक्षण में विद्यार्थी केवल एक विषय के दायरे में बॅधकर रह जाता था, किन्तु अब वह अन्य छात्र छात्राओं की भॉति एक पूर्ण, सुस्वस्थ्य व्यक्तित्व के रूप में उभर कर आ रहा है। विद्यालय के सुसभ्य वातावरण ने जहां एक ओर सद्भावना, सहिष्णुता, प्रेमभावना तथा सद्गुणों का सृजन किया है वहीं दूसरी ओर संगीत के प्रति समाज के विषाक्त दृष्टिकोण को विशुध्द बनाने में इसका सराहनीय योगदान है। संस्थागत संगीत शिक्षण का सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि जनसाधारण

Scanned with OKEN Scanner

में शास्त्रीय संगीत की समझ पैदा हुई किन्तु इतना सब सकारात्मक पक्ष होते हुए भी गुरू-शिष्य परम्परा में संगीत जितना फला फूला उसका आज प्रायः अभाव है। यही कारण है कि आज संगीत शास्त्र के अनेक विद्वानों, विचारकों के समक्ष तानसेन बनाम कानसेन, परम्परागत बनाम, संस्थागत पर चलती बहस, वर्तमान शास्त्रीय संगीत की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है।

आज की परिस्थिति में गुरू-शिष्य परम्परा प्रायः लुप्त हो गई है, राजाश्रय समाप्त हो गया है अब विश्वविद्यालय स्तर तक संगीत शिक्षा दी जाती है जिसके लिये सरकार शिक्षकों को निर्धारित वेतन के रूप में पर्याप्त धनराशि देती है परन्तु बिडम्बना यह है कि शिक्षाविद् शास्त्रीय संगीत की अवधारणा को समझने में समन्वित दृष्टिकौण नहीं रखते। विश्वविद्यालयों में हर विषयों की भॉति संगीत विषय का भी एक पाठ्यक्रम निश्चित है, निश्चित समयावधि में वह पाठ्यक्रम पूर्ण करना भी आवश्यक है,इसके अतिरिक्त निश्चित संख्या में विद्यार्थियों के प्रवेश की अनिवार्यता, संगीत विषय की शिक्षण प्रणाली के लिए यह पूर्ण रूप से अव्यवहारिक है। क्योंकि प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान केन्द्रित करते हुए संगीत-शिक्षा पद्धति संगीत कला की अनिवार्यता है, और गुरू-शिष्य परम्परा की श्रेष्ठता, सफलता का रहस्य और मूल तत्व भी। संगीत कक्षा में शिक्षक-विद्यार्थी के बीच समुचित अनुपात की कौन कहे, कक्षा में विद्यार्थियों की भारी भीड़ संगीत पाठ दुहराने के नाम पर अलग-अलग स्केल, टोनें तथा सुरों में सरदर्द पैदा करने वाला संगीत ,विद्यार्थियों का शोर, जिसके बीच फंसा बेचारा शिक्षक विद्यार्थियों को संगीत-ज्ञान कहॉ तक दे सकेगा? संगीत जैसे सुरीले विषय में भीड़तंत्र हमारे संगीत के समक्ष अत्यंत सोचनीय समस्या है।

विद्यालयों में प्रायः संगीत शिक्षण के लिए कक्षा में तानपूरा, लय ज्ञान के लिए तबले की संगति जैसी आवश्यक सुविधा, विद्यार्थियों के लिए वाद्यों का अभाव, जो रहते भी हैं, उनके रख रखाव, मरम्मत की कोई समुचित व्यवस्था न होना आम बात है। बेचारे संगीत शिक्षक, कालेज के सत्र आरम्भ होने से अन्त तक समस्त सांस्कृतिक कार्यक्रम उसी के मत्थे मढ़ दिये जाते हैं। प्रबंध से जुड़े लोगों को न इन आवश्यक सुविधाओं में कोई रूचि है, न विद्यार्थियों के संगीतज्ञ बनने से कुछ लेना -देना है, विद्यार्थी येन-केन प्रकारेण ऊँचे अंक प्राप्त कर लें, विद्यालय में प्रवेशार्थियों की भीड़ बढ़े, प्रवन्धक केवल इतना चाहते हैं और संगीत शिक्षक यह सब करता है, क्योंकि उसे इस समाज में जीना है, जीविका चलाने के लिये उसे अपनी नौकरी सुरक्षित रखनी है। वह मात्र छापेखाने की मशीन की तरह संगीत के डिग्री प्राप्त छात्र तैयार करता जाता है और कल्पना कीजिए कि इस प्रकार शिक्षा प्राप्त संगीत का विद्यार्थी विश्वविद्यालय की डिग्री अर्जित करके संगीत का शिक्षक बन जाता है, तो ऐसा शिक्षक अपने शिष्य को कैसे सही मार्ग दिखला सकेगा। यही कारण हैं जिनसे विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षण का स्तर निरन्तर गिरता जा रहा है।

एक वर्ष के पाठ्यक्रम में औसतन बारह चौदह राग-रागनियों का ज्ञान निर्धारित किया जाता है, अर्थात संगीत की सर्वोच्च डिग्रीधारी से कम से कम लगभग सौ राग,रागनियों में पारंगत होने की अपेक्षा की जाती है, अतः गुणवत्ता, श्रेष्ठता तथा संख्या-परिणाम के बीच सामंजस्य कहॉ तक, किस सीमा तक संभव है, विश्वविद्यालय स्तर की यह अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या है जिसका संतोषजनक समाधान आवश्यक है।

संगीत मुख्य रूप से अभिव्यक्ति प्रधान व्यवहारिक कला है,परन्तु विडम्बना यह है कि विद्यार्थी को कक्षा में संगीत शिक्षा के पश्चात सम्यक निर्देशन में अभ्यास करने की न सुविधा है, न मंच में कलाभिव्यक्ति का कोई अवसर ही मिल पाता है। अधिकांश विद्यार्थी कक्षा के पश्चात परीक्षक के सम्मुख अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं अतः विद्यार्थी में आत्मविश्वास उत्पन्न नहीं हो पाता इस कारण संगीत जैसे प्रदर्श्यकारी कला performing Art की शिक्षा भी अधूरी रहती है।

यद्यपि हिन्दी साहित्य, अंग्रेजी साहित्य,मनोविज्ञान आदि के शिक्षकों से किसी को यह अपेक्षा नहीं रहती कि उन्होंने कितने कवि, कितने नाट्यकार या कितने मनोवैज्ञानिक तैयार किये किन्तु 'प्रदर्श्यकारी कला' होने के कारण संगीत शिक्षकों से यह अपेक्षा

Scanned with OKEN Scanner

की जाती है कि हम कलाकार तैयार करें,किन्तु मात्र विद्यालय में सामूहिक रूप से एक निश्चित समयावधि के संगीत शिक्षण से कलाकार तैयार करना प्रायः शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के लिए असम्भव ही हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि संस्थागत संगीत शिक्षण परम्परागत संगीत शिक्षण के समान उच्च कोटि के कलाकार तैयार करने में उसकी भूमिका नगण्य है किन्तु संगीत के प्रचार,प्रसार तथा संगीत के जानकार पैदा करने में, संगीत को प्रतिष्ठा प्रदान करने में जो क्रान्तिकारी प्रगति हुई, उसके लिये विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षण की भूमिका अत्यन्त सराहनीय है। यदि हमारे शिक्षाविदों विश्वविद्यालयों, अनुदान आयोग से लेकर केन्द्र एवं शिक्षा विभाग संगीत के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त एवं भ्रामक दृष्टिकोण को छोड़कर उदारवादी दृष्टिकोण अपना लें, तो यह समस्यायें दूर हो सकती हैं। जिस प्रकार ज्ञान विज्ञान, भौतिक औद्योगिक विकास के लिए अरबों खरबों रूपये व्यय किये जाते हैं, यही दृष्टिकोण संगीत शिक्षण के क्षेत्र में भी अपनाना चाहिए। इस ओर प्रशासन का ध्यान केन्द्रित करवाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

शास्त्रीय संगीत सम्पूर्ण जीवन एंव व्यक्तित्त्व के प्रति समग्र समन्वित दृष्टिकोण है। इसके अन्तर्गत सौन्दर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्य, दर्शन जैसे विषयों का अध्ययन आता है। ऐसी बहुआयामी संगीत साधना के लिए विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी ही उपयुक्त होंगे, अतः एक कक्षा में 20,30 विद्यार्थियों की अनिवार्यता समाप्त करके, अर्हता अभिरूचि क्षमता का मापदण्ड निर्धारित करके प्रवेश परीक्षा की अनिवार्यता के उपरांत ही इस विषय में प्रवेश मिलना चाहिए। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण है कि इसका भार कम करना चाहिए ताकि संख्या की अपेक्षा गुणत्ता का विकास हो सके। जिससे शिक्षक विद्यार्थियों को संगीत के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने में अपनी भूमिका निभा सकें। व्यक्तिगत रूप से सिखाने की कला होने के कारण संगीत कला का शिक्षण अत्यन्त श्रमपूर्ण होता है। अतः अन्य विषयों की अपेक्षाकृत इसके शिक्षण के लिए विद्यालयों में अधिक समय का प्रावधान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त समय-समय पर अच्छे कलाकारों के कार्यक्रम करवा के विद्यार्थियों को उनकी कला का लाभ मिल सके, इसकी व्यवस्था विद्यालयों एंव विश्वविद्यालयों में होनी अति आवश्यक है। विभिन्न संगीत गोष्ठियों का आयोजन होना चाहिए और उनमें विद्यार्थियों को अपनी कला का प्रदर्शन करने का अवसर मिलना चाहिए, ताकि उनमें आत्मविश्वास पैदा हो सके। विभिन्न संगीतज्ञों के कैसेट, वीडियो कैसेट,टेपरिकार्डर आदि संगीत शिक्षण में किस प्रकार सार्थक हो सकते है, इस ओर शिक्षकों का ध्यान केन्द्रित होना अति आवश्यक है। हम शिक्षकों को चाहिए कि संगीत के प्रति विद्यार्थियों का रूझान बढायें और अधिक से अधिक अभ्यास के लिए उन्हें प्रेरित करें। इन सब बातों के साथ अत्यंत आवश्यक बात यह है कि शिक्षक का पूर्ण उत्तरदायित्व होना चाहिए कि वह परीक्षा काल में विद्यार्थियों का मूल्यांकन बिना पक्षपात के न्यायपूर्ण करें। इसमें सभी का सहयोग अपेक्षित है।

संगीत को मात्र जीविकोपार्जन का साधन न मानकर पठन-पाठन, अभ्यास आदि पर हम शिक्षकों का ध्यान केंन्द्रित होना चाहिए। यदि शिक्षक और प्रशासन संगीत के प्रति इस उदारवादी दृष्टिकोण को अपनायेंगे तो निश्चित ही विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षण से संगीत के स्तर में वृद्धि होगी और शिक्षक संगीत की परम्परागत संस्कृति को क़ायम रखने में पूर्ण रूप से सफल हो सकेंगे। अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब हमारा संगीत अपनी मौलिकता के साथ इतिहास के पन्नों में सिमट जायेगा।

Scanned with OKEN Scanner

टप्पा शैली, उद्‌गम और विकास

डॉ. महारानी शर्मा

भारतीय शास्त्रीय संगीत में ध्रुवपद, धमार, ख्याल टप्पा और ठुमरी, जैसे चार पल्ले की गीत शैलियां प्रचलित रही है। इनमें से ध्रुवपद धमार और ख्याल का प्रचलन संगीत की सामूहिक शिक्षा और महफिलों में आज भी है, ठुमरी शैली का भी उतना प्रचार नहीं है, किन्तु "टप्पा शैली बहुत कम सुनाई देती है - जबकि आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व टप्पे ने ऐसा रंग जमाया कि ध्रुवपद और ख्याल भी उसके सामने फीके हो गए" ये शब्द स्व. रामकृष्ण जी के हैं। आज कल इस शैली के लिए लोगों की जानकारी मात्र इतनी है, कि टप्पे के आविष्कारक शौरी मियां थे। 'Change is the law of nature' के अनुसार अब लोगों का ध्यान इस शैली की ओर आकृष्ट हुआ है। अभी हाल में 11-11 दिसंबर 2010 को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में भातखण्डे डीम्ड यूनीवर्सिटी के डॉ. जयन्त जी ने अनेक प्रकार के मोहक और खूबसूरत टप्पा का गायन किया। जिसमें हिन्दी उर्दू और ब्रजभाषा रचित टप्पे रहे जो अपने आप में एक आकर्षण का केन्द्र था और इस शैली के उद्‌भव विकास और चलन पर लोगों की रूचि बढ़ी है, जो खास तौर से संगीत की शास्त्रीयता के लिए शुभ लक्षण माना जा सकता है।

संगीत की शास्त्रीय शैलियों के बीच ठुमरी और टप्पा क्षुद्र प्रकृति की उपशास्त्रीय गायन शैलियां समझी जा सकती है। ये शैलियां भाव प्रधान है, भावोद्रेक और बोल-बनाव के कारण इन शैलियों में राग-हानि होना स्वाभाविक है। संभवतः इसीलिए ये शैलियां "क्षुद्र" कहीं गई है। लेकिन जितनी ये शैलियां क्षुद्र कही गई हैं, उतना ही सीखने सिखाने में बहुत कठिन भी है। ठुमरी गीत शैली को उत्तर प्रदेश की "देन" कहा जाता है, तो "टप्पा" पंजाब प्रान्त का गीत है। इस संदर्भ में डॉ. सौ. अर्चना माधव अम्मोरे ने सितम्बर 2009 को संगीत कला बिहार में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं - उत्तर भारत में पहले टप्पा गायन प्रचार में नहीं था - टप्पा सिर्फ पंजाब में गाया जाता था। उत्तर भारतीय संगीत को पंजाब द्वारा मिली एक विलक्षण और अनुपम भेंट याने 'टप्पा गायन' शैली है। इसमें संदेह नहीं कि संगीत की सामूहिक शिक्षा के बीच, यह शैली "अप्रचलित शैली" होती चली जा रही है।

टप्पा गान के प्रवर्तक शौरी मियां कहे जाते हैं। शौरी मियां कव्वाल घराने के गायक थे और विद्वानों का मानना है कि कव्वालों का एक वर्ग पंजाब में रहता था। अतएव "टप्पा" मूलतः पंजाबी धुन प्रधान लोकगीत रहा है, इसकी भाषा पंजाबी होने के कारण इस शैली को पंजाब का गीत कहा गया है, किन्तु डॉ. विमलराय एम.बी. के मतानुसार - "टप्पा का जन्म पंजाब में होते हुए भी वास्तविक "टप्पा" दिल्ली में प्रचलित हुआ था उसके बाद लखनउ में प्रचलित हुआ। इस प्रकार इस गीत का प्रचार प्रसार उत्तर प्रदेश में होने लगा। यह गीत जन सामान्य का गीत था, जिसका वर्ण्य विषय प्रेमगोति या नायक और नायिकाओं का प्रेम प्रसंग रहा। जब इस गीत को अभिजात स्वरूप प्रदान किया गया, तब "टप्पा" संगीत के उपशास्त्रीय प्रकार के रूप में उभरा। यह गीत प्रकार कब और कैसे, पंजाब से निकलकर इधर-उधर के अंचलों में विकसित हुआ, इसके ठोस-प्रमाण या ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। फिर भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, का 'हमारे संगीत रत्न',

Scanned with OKEN Scanner

विलायत हुसैन खां का 'संगीतज्ञों के संस्मरण', 'आइने अकबरी' के कुछ अंश और मिर्जाखान के 'तुहफेतुल हिन्द' और खास तौर से डॉ. विमल राय एम.बी. के ग्रंथों में जो साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, उनके आधार पर टप्पा शैली के उद्‌भव एवं विकास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

विद्वानों के मतानुसार टप्पा पहले गांव में गाया जाने वाला एक ग्राम्य गीत था जिसमें नायक-नायिकाओं के प्रेम प्रसंग का विवरण मिलता है। अनुमान है कि इस प्रकार के गीत का प्रचलन शाहजहां और औरंगजेब के शासनकाल से भी पहले हो चुका था।

1. इस संदर्भ में शेख अबुल फजल के ग्रंथ में एक प्रकार के देशी गीति का विवरण मिलता है, जिसका स्वरूप तत्कालीन ग्राम्यगीत की भांति था तथा यह गीत लाहौर के अंचल का गीत था, लाहौर उस समय पंजाब प्रान्त का एक हिस्सा था। अतः यह ग्राम्यगीत पूर्णतः पंजाबी था इसे उस समय 'प्रेमगीति' भी कहा जाता था।

2. संगीत के प्रबुद्ध विद्वान डॉ. विमल राय एम.बी. ने लिखा है - फकीरूल्ला ने अपने ग्रंथ में छन्द के परिचय के वाद 'डफा' जैसे गीत का उल्लेख किया है। यह 'प्रेम-गीति' था और पंजाब में प्रचलित था। इससे सिद्ध यह होता है कि उस समय 'डफा' नामक गीत भी प्रचार में था। जिसका स्वरूप फकीरूल्ला के 'देशीगीति' से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इस गीत के छन्द, चरण (कृतियां) और वर्ण्य-विषय आदि सभी 'डफा गीत' से मिलते थे। अतएव यह सहज अनुमान है कि कुछ अंचलों में 'देशीगीति' कुछ में ग्राम्यगीत और कुछ स्थानों पर डफा जैसे गीत का प्रचलन रहा हो। धीरे-धीरे यही गीत शौरी मियां के समय 'टप्पा' नाम से प्रचार में आया।

3. फकीरूल्ला के समसामयिक मिर्जाखान ने भी अपने ग्रन्थ 'तुहफेतुल हिन्द' में जिस गीत का विवरण दिया है वह भी 'डफागीत' था। संभावना है कि यही 'डफागीत' कालान्तर में 'टप्पा' नाम से प्रचलन में आया हो। इस संदर्भ में डॉ. विमला राय के विचार - टप्पा जव हमें सन् 1663-64 में मिलता है तो माना जा सकता है कि इसका जन्म, शाहजहां और औरंगजेब के शासनकाल से भी कई वर्ष पूर्व हो चुका था, उस समय 'डफा' गीत के रूप में प्रचार में आया उसके बाद 'डफा' के स्थान पर टप्पा गीत का प्रचलन हुआ। डॉ. विमल राय जी पुनः लिखते हैं -

"गुलाम नवीं उत्कृष्ट कोटि के विद्वान एवं खयालिया होते हुए टप्पा के प्रति उनका बड़ा प्रेम था। डफा का चलन देखकर उन्होंने उसमें कुछ विशेषत्व परिलक्षित करके टप्पा का प्रचलन किया और 'डफा' नाम का व्यवहार बन्द हो गया। अभिप्राय है तत्कालीन प्रचलित 'डफागीत' में कुछ और विशेषताओं को जोड़कर गुलामनवीं यानि शौरी मियां ने जिस गीत की रचना की वह "टप्पा" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार शौरी मियां का यह टप्पा गीत उस समय में प्रचलित देशीगीत, ग्राम्यगीत और डफा गीत शैलियों के बीच होता हुआ, अंततः संगीत की उपशास्त्रीय शैली के रूप में सामने आया।

टप्पा का आकार-प्रकार

'टप्पा गीत' पंजाबी लोकगीतों का परिभार्जित स्वरूप है लेकिन इन लोकगीतों के गानेवाले वे उंट चालक थे जो उंटनी पर चढ़कर पंजाब से राजस्थान तक 3-4 दिनों में पहुंच पाते थे। दिन-रात 24 घंटों के समय को काटने और अपने परिश्रमों की थकान मिटाने के लिए जो गीत गाते थे उन्हीं का स्वरूप 'टप्पा' गायकों में आया। जैसा कि विद्वानों का मत है -

1. 1934 के अंग्रेज विद्वान कैप्टिन विलियर्ड लिखते हैं—Tappas were fermaly sung in urg rude style by the camel drimrs of Punjab अर्थात् पंजाब के उंट चालक इस गीत को बड़ी शुष्क तरीके से गाते थे।

2. डॉ. राय का भी यही मत है - फिर भी कैप्टिन विलियर्ड के तथ्य में सत्यता का होना स्वाभाविक है कि टप्पा पंजाब के उंट चालकों का प्रेमगीति है।

Scanned with OKEN Scanner

3. संगीत कला विहार 2009 सितम्बर में डॉ. अर्चना माधव अम्भोरे लिखती है - कुछ विद्वानों के मत से 'तृप्ता' पंजाब की मरूभूमि है। इस क्षेत्र में बलूचि और अफगानी लोग उंट पर सवार होकर लंबी-लंबी कतारों में व्यापार निमित्त दिन रात प्रवास करते थे। तब ये सांड़नी (उंटनी) सवार पंजाब की प्रेम-गाथाएं, हीर-रांझा, सोहनी-महिवाल आदि का गायन करते-करते अपने रास्ते की थकान और श्रम का परिहार करते थे। संभवतः इन्हीं उंट-सवारों का लोकगीत टप्पा के आकार-प्रकार का स्वरूप बना।

4. इसी तथ्य का अनुमोदन श्री गोविन्द राजुरकर और श्री गोस्वामी जी ने किया "टप्पा पंजाब के उंट चालको द्वारा गाया जानेवाला एक लोकगीत था" वैसे भी 'टप्पा' शब्द संस्कृत के टप् धातु में टाप प्रत्यय लगाकर बना है टप् + टाप = टप्पा, जिसका अर्थ है उछलना-कूदना। यही कारण है कि इस गीत की प्रकृति चंचल और उच्छाउ है। इसकी चाल भी उंट की भांति उपर-नीचे उछलती हुई चलती है। अतः यह गीत मूलतः पंजाबी लोकधुनों से बना हुआ है। उंट सवार के अलावा इन गीतों का गायन ब्याह-शादी के अवसरों पर खूब जोर-शोर से हुआ करता था। 1972 मार्च संगीत पत्रिका का उल्लेख - पंजाबी टप्पा नामक गीत, पंजाब में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विवाह-अवसर पर ढोलक के साथ इस गीत को औरतें गाती है। कहरवा ताल के साथ भी स्त्री-पुरूष सामूहिक रूप से इसे गाते हैं। बाद में उत्तर प्रदेश में भी इस गीत का प्रचलन रहा। सन् 1970 तक उत्तर प्रदेश के पश्चिमी इलाकों में होने वाले शादी विबाहों में एक रस्म ऐसी होती थी जब विदाई के समय दुल्हा कोहबर (देवी-देवताओं का कक्ष) में जाता, तब लड़की (दुल्हिन) की सखी सहेलियां दुल्हे से छन्द गवाने का आग्रह करती थी। छन्द को लोक भाषा में छन्न कहा जाता था। इस छन्द (छन्न) में पंजाबी लोकगीत की भांति एक तुक या फिकिराबन्दी होती है जैसे - छन्न पकइया छन्नू-छन्नू के उपर गोभी दूल्हे की मां को ले गया धोबीं। इस प्रकार के अनेक हंसी मजाक और हल्के-फुल्के गीतों को गाने की प्रथा रही। हालांकि आज इलेक्ट्रॉनिक डीजे संसाधन पर किए गए फिल्मी गीतों के डान्सस् ने इस प्रकार के लोकगीतों को बिलकुल समाप्त कर दिया है। लेकिन अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि टप्पे के पूर्व इसका स्वरूप पंजाब से लेकर उत्तर प्रदेश के लोकगीतों में फैला हुआ था।

टप्पे की भाषा पहले पंजाबी, मुल्तानी और फारसी थी। इसके लिए आवाज महीन, मधुर और टीपवाली होनी चाहिए। तुक, फिकिराबन्दी, हंसी मजाक, प्रेम प्रसंग और कहीं कहीं सूफियाना अंदाज के छन्द (कलियां) इनमें मिलते हैं। चूंकि यह गीत धुन-प्रधान होता है। अतएव इसकी प्रकृति के अनुकूल मिश्र खमाज-काफी, भैरवी, मांड और सिन्दूरा जैसे रागों का प्रयोग किया जाता है। तथा ताल-संगत के लिए टप्पा ताल या कहीं-कहीं चाचर और कहरवा ताल बजाई जाती है। टप्पा भले ही क्षुद्र प्रकृति की गायन शैली है, किन्तु सीखने-सिखाने में यह गायकी बड़ी श्रम-साध्य और विशेष रियाज की गायकी है।

शौरी मियां टप्पे के प्रवर्तक थे। 1957 के 'हमारे संगीत रत्न' के अनुसार 'शौरी मियां कव्वाल घराने से संबद्ध थे। इनका असली नाम गुलाम नबीं था। ये गुलाम रसूल के पुत्र थे जो अच्छे कव्वाल गायक रहे। शौरी मियां को टप्पे की नवीन गायन पद्धति का संस्थापक कहा जा सकता है। चूंकि इनकी आवाज बहुत पतली थी। इसीलिए इन्हें ख्याल की तानबाजी से संतोष न हो सका। अतः अपनी आवाज के योग्य गायन शैली ढूंढ निकालने का प्रयत्न करने लगे। इन्होंने पंजाबी भाषा सीखने के बाद उसी भाषा में कुछ गीत रचे और अपनी गायकी को विशेष बंदिश में ढाल कर टप्पे का रूप दिया। इसी कारण उन्हें 'टप्पे' का प्रवर्तक कहा जाता है। डॉ. विमल राय ने उल्लेख किया है - "शौरी ने ख्याल की इन तानों को विभिन्न प्रकृति के अनुसार पृथक् ढंग से व्यवहार कर विशिष्ट रीति के गानों की रचना आरंभ की। इसीलिए उनके टप्पों में हमें लड़ीरीति, गुथाव रीति, फंदारीति और खंडा रीति का वैशिष्ट्य मिला। कहने का अभिप्राय है तत्कालीन पंजाबी लोकगीतों अथवा देशी गीतों में कुछ विशेष रीतियां को डालकर मियां शौरी ने जिस गीत की रचना की वह 'टप्पा' कहलाया, और अभिजात संगीत के उपशास्त्रीय गीत प्रकार के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

Scanned with OKEN Scanner

विभिन्न अंचलों में टप्पे का विस्तार

अनेक उद्धरणों और उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पंजाब के कव्वाल घरानों के कलाकारों ने इस शैली की तालीम भी दी, और शिष्य दर शिष्य इस शैली का विस्तार भी किया। ऐतिहासिक रूप से यह सिद्ध है कि कव्वाल गायकों का एक वर्ग पंजाब में रहता था, जिनकी भाषा, बोली, पहनावा एवं गायकी पूरी तौर पर पंजाबी थी। अतएव अधिकतर मुस्लिम कव्वाल गायक टप्पे गीत शैली के गुरू रहे, यहां तक कि ध्रुवपद गायक सदारंग और अदारंग ने भी मुस्लिम पद्धति के गीत कव्वाल गायकों से प्राप्त किये। डॉ. विमलराय जो लिखते हैं - दरबार में कलावन्तों और कव्वालों के अलावा, पंजाब के किसी ऐसे हिन्दू गायकों का उल्लेख हमें नहीं मिलता, जो ख्याल या टप्पा गाते हों।

इस प्रकार पंजाब प्रांत से निकलकर इस शैली का विस्तार लखनउ में हुआ। मियां शौरी चूंकि लखनउ के नवाब आसफुद्दौला के दरबारी गायक रहे। अतएव टप्पे का विकास लखनउ में होना स्वाभाविक था। इसके बाद काशी (बनारस) में फिर मध्यप्रदेश के ग्वालियर में इस शैली का विस्तार हुआ। बनारस में टप्पा गायन खूब प्रचलित हुआ, वहां टप्प-ख्याल, टप्प-ठुमरी जैसी टप्पे से प्रभावित गीत-शैलियां का चलन होने लगा। काशी के स्व. रायकृष्ण दास ने उल्लेख किया है - शौरी मियां के बाद टप्पे के द्वितीय आचार्य मियां गामू थे। इन्हें काशी के महाराज उदित नारायण सिंह काशी ले आए। इन्हीं ने टप्पे का विशेष प्रचार किया गामू मियां फिर, जन्म भर काशी में रहे और यहीं उनका शरीरान्त हुआ। इस प्रकार पंजाब और लखनउ होता हुआ टप्पा काशी में पहुंच गया। मियां गामू के पुत्र भी अपने पिता के अनुरूप कलाकार हुए। इसके अलावा काशी में टप्पे और ख्याल के खलीफा शादी खां हुए, उनकी शिष्याएं भी उस समय की अद्वितीय गायिकाएं रहीं और इस शैली का खूब प्रचलन हुआ।

काशी के स्व. रायकृष्ण दास ने तत्कालीन टप्पे गीत की शोहरत के लिए लिखा है - प्रायः 100 वर्ष पहले टप्पे और ख्याल के खलीफा शादी खां, यहां हुए। उनकी शिष्याएं चित्रा और इमामवादी टप्पे गायन में उस युग की अद्वितीय गायिकाएं समझीं जाती थी। इस प्रकार काशी टप्पे का एक बहुत बड़ा केंद्र हुई और यहां उसकी (टप्पे की) विशेष 'भांज-खराद' भी हुई। इस तरह बनारस में टप्पा खूब फला-फूला। 1857 के हकीम मुहम्मद करम इमाम ने अपने ग्रंथ में लगभग सभी संगीत-केन्द्रों की चर्चा करते हुए काशी की इमामवादी के विषय में लिखा है - "मियां शौरी की परंपरा में टप्पा गाने में काशी की इमामवादी अद्वितीय थीं। गिरह, फिकरा और आड़ी के कामों में जो टप्पे की जान समझे जाते हैं, में यह बहुत निष्णात् थीं। आज काशी की स्व. सिद्धेश्वरी देवी, स्व. रसूलनवाई, श्रीमती गिरिजा देवी और श्रीमती सविता देवी आदि के नाम टप्पे गायन में लिए जा सकते हैं।

ग्वालियर (मध्यप्रदेश) की भूमि भी टप्पे-गायन से रहित ना रह सकी। ग्वालियर ध्रुवपद शैली का गढ़ माना जाता है, उसके बावजूद वहां ध्रुवपद, ख्याल, टप्पा और ठुमरी जैसी चारों पल्लों की गायकी का न केवल पोषण हुआ बल्कि उत्तम विकास भी हुआ।

ग्वालियर में ख्याल शैली के संस्थापक नत्थन पीरबख्श के प्रपौत्र हस्सू-हद्दू खां के शिष्यत्व में अनेक 'टप्पे गायक तैयार हुए। विलायत हुसैन खां द्वारा लिखित 'संगीतज्ञों के संस्मरण' में उल्लेख मिलता है - हस्सू हद्दू खां के शिष्यत्व में पंडित ब्राह्मणों की बहुत बड़ी टीम तैयार हुई जो ध्रुवपद ख्याल टप्पा व ठुमरी के अच्छे कलाकार हुए। जैसे - पंडित रामदेव बुआ, उनके शिष्य पंडित बालकृष्ण बुआ इचलकंरजीकर, उनके शिष्य संगीत उन्नायक पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जो बाला साहब पूंछवाले, और भी अन्यान्य संगीत साधक टप्पे गायन में प्रवीण हुए। बी.आर. देवधर जी के मतानुसार पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी ने टप्पा गायन एक पुस्तक लिखी, जिसमें लगभग 23 टप्पा बंदिशें स्वरलिपि सहित दी गई। उधर बाला साहब पूंछवाले के संबंध में ग्वालियर के प्रसिद्ध संगीतकार डॉ. प्रभाकर गोहदकर

Scanned with OKEN Scanner

जी ने 1996 अक्टूबर को संगीत पत्रिका में अपने विचार प्रकट किए हैं - विभिन्न रागों में टप्पा प्रस्तुत करने में बाला साहब पूंछवाले पूर्णतः दक्ष थे। मध्यप्रदेश शासन द्वारा संचालित ''अल्लाउद्दीन संगीत अकादमी'' के छात्र-छात्राओं को टप्पा गायन का विशेष प्रशिक्षण देने के लिए पंडित बाला साहब को भेजा गया। संप्रति वाला साहब की शिष्य परंपरा के डॉ. जयन्त एक उत्तम टप्पा गायक है।

धीरे-धीरे आज के संगीत विद्यार्थियों में भी इस गीत शैली के प्रति रूचि बढ़ी है। वे टप्पे की जानकारी के लिए केवल शौरी मियां तक सीमित नहीं रहना चाहते बल्कि इस गीत शैली को सीखना भी चाहते हैं। संगीत के शास्त्रीय विकास में यह एक महत्वपूर्ण कड़ी समझी जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. हमारे संगीत रत्न
2. विलायत हुसैन का संगीतज्ञों के सम्मुख
3. संगीत कला विहार - सितम्बर 2009
4. संगीत पत्रिका अक्टूबर 1996

Scanned with OKEN Scanner

घराना शिक्षण पद्धति में गुरू-शिष्य परंपरा

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

आज 'घराना' शब्द से जो अर्थ हम लेते हैं उसका इतिहास 100 साल से अधिक नहीं है। परंतु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन काल में घराना न था। वास्तव में इस शब्द का व्यापक अर्थ है, इसे संकुचित अर्थो में नहीं लेना चाहिए। भरत, नंदिकेश्वर, कोहल, नारद, मतंग, शारंगदेव ये सभी प्रख्यात संगीतकार थे साथ ही शास्त्रकार भी। वास्तव में इनकी संगीत कला अपनी विशेषताओं के कारण अलग-अलग चिन्हित होती थी। आधुनिक युग की परिभाषाओं के अनुसार इन्हें अलग-अलग घरानाओं का प्रवर्तक कहा जा सकता है।

घराना का अर्थ होता है एक विशेष स्थान पर प्रचलित अथवा व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित संगीत की 'रीति' या 'स्टाइल' और यही स्टाइल किसी एक वैशिष्टय द्वारा चिन्हित होती है।[1] इसलिए घरानों का नामाकरण किसी व्यक्ति या स्थान के नामानुसार होता है जैसे सेनिया घराना, अल्लदिया खां घराना, ग्वालियर घराना, आगरा घराना इत्यादि।

विभिन्न गुरू परंपराएं, निजी शैली के प्राधान्य एवं उसके प्रदर्शन का लोभ, रियासतों का संरक्षण और बाद में रियासतों के टूटने की स्थिति में संगीत कला को पतन से बचाने एवं आर्थिक कठिनाईयों, संगीत का वशं परंपरा में सीमित होने के फलस्वरूप संगीत में घरानों की परंपरा को दृढ़ किया गया।

वास्तव में इन घरानों की नींव राजपूत काल में ही पड़ गयी थी किन्तु ख्याल शैली के प्राधान्य युग (18वीं शताब्दी) में घराने विशेष रूप से प्रचार में आये। घरानों की परंपरा का संगीत शिक्षा से अटूट संबंध है। एक युग में या यह कहा जाए कि बहुत पहले से हमारा संगीत शिक्षण, अध्ययन, अध्यापन इन घरानों के दायरों के अंतर्गत चलता रहा है। इस संबंध में यदि हम किसी घराने की गुरू-शिष्य परंपरा पर गौर करें तो सहज ही हमें ज्ञात हो जाता है कि विद्याध्ययन में गुरू-शिष्य परंपरा जो प्राचीन काल से प्रचलित है इसकी अमिट छाप अब तक घराना शिक्षण पद्धति में संरक्षित है। संगीत का कोई भी क्षेत्र हो, चाहे संगीत का कोई भी प्रचलित रूप हो, ध्रुपद-ख्याल या वादन का कोई भी वाद्य हो, शिक्षण देने का ढंग एक उस विद्या या कला को ग्रहण करने की प्रणाली गुरू-शिष्य परंपरा का अनुमोदन करती है अर्थात् 'एक गुरू और उसका शिष्य, इन्हीं के बीच संगीत की खास तालीम दी जाती रही है।[2]

घराने का आधार 'गुरू' है। प्रत्येक घराने में 'गुरू' या उस्ताद केन्द्र बिन्दु होता हैं गुरू और उसका शिष्य इन्ही के बीच संगीत की विशेष शिक्षा प्राप्त करते हैं। गुरू शिष्य को आमने सामने बैठाकर शिक्षा देता है और शिष्य अपनी पूरी लगन, परिश्रम और श्रद्धा से कला की विशेषताएं ग्रहण करता गुरू की शैली की सारी विशेषताएं शिष्य के कंठ में आ जाती। गुरू की यह कोशिश होती है कि शिष्य उसकी हू-ब-हू तस्वीर बने और इसलिए शिक्षा पूरी होने तक शिष्य को किसी दूसरे घराने की गायकी सुनने का अधिकार न मिलता। शिक्षा समाप्ति के बाद शिष्य अन्य घरानों की विशिष्टताओं से अवगत हो सकता है इस अवस्था में उसे दो तरह की छूट अपने आप मिल जाती हैं - एक तो यह कि वह जिस घराने में जो विशेषता अनुभव करे उसे चाहे तो अपना ले परंतु यहां भी शर्त यह है कि उसके अपने

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.एम.एच.टी. कॉलेज, मालेगांव, नासिक

Scanned with OKEN Scanner

मूल चरित्र पर कोई प्रभाव न पड़े। दूसरे कलाकार अपनी बुद्धि, रियाज, अनुभव और रूचि के आधार पर भी परंपरागत शैली में न्यूनाधिक परिवर्तन कर सकता है। उपर्युक्त इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण घरानों की परंपराआं की धारा विकसित, परिवर्तित और परिवर्द्धित होती रहती है। घराने की निरंतरता के बल केवल शिष्य परंपरा के चलने में नहीं, वरन् उस्ताद की गायकी या बान चलने में है।

समय तथा परिस्थितिवश संगीतकला को पतन के गर्त में जाने से रोकने हेतु घरानों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, किन्तु यह कहना भी अनुचित न होगा कि घरानों की इसी परिपाटी ने संगीत की आंतरिक स्थिरता या जड़ता को जन्म दिया। घरानों की आपसी कटुता के कारण वैमनस्य बढ़ा। इस प्रकार कुछ लाभ के साथ हानियां भी हुई। गुरू के गुणों के साथ उसकी बुराइयों को अपनाने में शिष्य हिचकिचाता नहीं, वरन् वह आत्मसात करने में शान समझता है। शारीरिक ऐबों या व्यंग्य के कारण यदि उस्ताद में कोई दोष हो जाए तो शिष्य भी उसे तुरंत आत्मसात कर लेता है।[3]

घरानों की प्रशंसा में कहा जा सकता है कि जब कलाओं में परिपक्तवता आ जाती है तब वहीं परिपक्वता विशिष्ट शैली को जन्म देती है। भारत में ऐसी शैलियां ने घराना या परंपरा का रूप प्राप्त किया।

किन्तु घरानों के कारण दो हानियां समाज को पहुंची। प्रथम तो रियासतों, राजाश्रयों, राज्यों में प्रमुखतः कलाकारों की नियुक्ति के कारण, जिनके आश्रयदाताओं का उद्देश्य केवल मनोरंजन था, संगीत के उच्च स्तर को ठेस पहुंची। कलाकार व्यसनी हो गए। इस प्रकार जो संगीत मंदिरों की संपदा एवं ऋषियों की विद्या थी। वह अपनी पवित्रता खोने लगी। अतः समाज इसे निम्न दृष्टि से देखने लगा और संगीत घरानों में कैद होकर जन साधारण से दूर होता गया। समाज में सामान्य व्यक्तियों, संगीत प्रेमियों के लिए संगीत का प्रबंध न रहा।

घरानों की विशेषताओं में कई बातें मुख्य होती है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि एक ही शैली के अनेक रूप है, जैसे ध्रुपद में चार 'वाणियां' थी और उन चारों के अलग अलग स्वरूप थे, इसी प्रकार ख्याल के घराने भी एक ही ख्याल की शैली के होते हुए भी कई बातों में परस्पर एक दूसरे से भिन्न है। प्रत्येक घराने की अपनी कुछ विशेषताएं होती है।

जब भिन्न-भिन्न घरानों के लोग गाते-बजाते हैं तो एक ही राग के अंतर्गत कई भिन्नताएं दिखाई देने लगती है। घरानेदार संगीतज्ञ प्रायः व्यवसायी होते हैं सगीत के प्रति गहरा लगाव होने के कारण संगीतज्ञ अधिक अभ्यास करते है और इनका भरसक प्रयास होता है कि उनकी संतान भी उसी कार्यक्षेत्र में रहकर घराने की परंपरा को आगे बढ़ायें। घरानेदार शिक्षण-पद्धति में प्रायः शिष्यों के तीन प्रकार होते हैं और इसके लिए तीन शब्द व्यवहृत है -

1. खासुल खास
2. खास
3. गंडा बंधन

1. खासुल खास - खासुल खास का अर्थ है अत्यंत निकट। इस कोटि के शिष्य प्रायः उस्ताद की अपनी ही संतान या निकट सबंधी होते है। उन्हें ये अपने घराने की सभी सूक्ष्मताओं से अवगत कराने का प्रयत्न करते है जिससे यह कला कई सदियों तक बनी रहती है। वे सभी बातें इस प्रकार के शिष्यों को हृदय खोलकर बताते हैं, इस कोटि के इतर शिष्यों को संगीत की गूढ़ता बतलाने में 'गुरू' या उस्ताद कोताही करते हैं। इनकी दृष्टि में संगीतकार की सम्पदा उसकी कला ही है, इसलिए जिस ढंग से दौलतवाले अपनी दौलत अपने ही परिवार में अपने बाद या अपने समय में ही देना चाहते है उसी प्रकार संगीतज्ञ भी दौलत रूपी कला अपने परिवार या निकटतम संबंधी को ही देना चाहते हैं। इस प्रकार वह अपनी कला को अपने परिवार और संबंधी तक ही सीमित रखना चाहते है।

2. खास - खास श्रेणी में वे आते है जो उस्ताद की संतान के अतिरिक्त उनके वंश का कोई भी व्यक्ति हो सकता है या फिर कोई ऐसा शिष्य जो आदर से या प्यार से गुरू या उस्ताद का दिल जीत ले। खास तथा खासुल खास में थोड़ी भिन्नता है। खासुल खास को तो सारी विद्या तथा सारी कला गुरू बतला देते हैं परंतु खास को कुछ गूढ़ बातें नहीं बतलाते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

3. गंडा-बंधन - इस श्रेणी के शिष्य गंडा बंधन द्वारा आते है। गंडा-बंधन एक प्रकार का रस्म है। रस्म अदायगी सार्वजनिक रूप से की जाती है और तत्पश्चात ही शिष्य के रूप में स्वीकृति मिलती है। रस्म अदायगी के अंतर्गत शिष्य की कलाई पर मौली बांधी जाती है अर्थात् एक औपचारिक समारोह करके गुरू-शिष्य के बीच संबंध स्थापित किये जाते है। इस प्रकार के समारोह में निकट जनों को आमंत्रित किया जाता है। इस प्रकार इन 'गंडा-बंधन' शिष्यों में अगर कोई विद्यार्थी होनहार एवं परिश्रमी हो तो वहीं अपनी सूझबूझ एवं अभ्यास के बल पर आगे निकल जाता है वरन् इनकी संख्या अत्यधिक होने के कारण अधिकांश शिष्य भीड़ में ही डूब कर रह जाते हैं। इस वर्ग के शिष्यों पर गुरू अधिक परिश्रम नहीं करते इसलिए कई बार शिष्य उच्च कोटि की कला का प्रदर्शन नहीं कर पाता।

प्रत्येक घराने की शैली भिन्न होती है। शैली के लिए निम्न बातों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है–

1. गीतों की बंदिश (स्वरलिपि)
2. स्वरोच्चारण, आवाज लगाने का ढंग
3. तान एवं बोल तानों का प्रयोग
4. राग विस्तार एवं आलाप
5. तान और लयकारी
6. रागों का चयन
7. रागों की बढ़त इत्यादि

इस समय देश में ख्याल गायकी के मुख्य घराने निम्नलिखित हैं -

1. ग्वालियर घराना
2. आगरा घराना
3. दिल्ली घराना
4. पटियाला घराना
5. किराना घराना
6. जयपुर घराना

इन घरानों में से कुछ घरानों की चर्चा कर रहा हूं -

1. ग्वालियर घराना :- ग्वालियर की संगीत परंपरा अति प्राचीन है तथा यह तोमर वंश के बहुत पूर्व ही अत्यंत समृद्ध रही है।। तोमर वंश ने इसे गतिशील बनाया और राजा मानसिंह ने इसे इतना सजाया-संवारा एवं परिष्कृत किया कि यह परंपरा जन-साधारण तक में प्रचलित होकर संपूर्ण भारत में लोकप्रिय हो उठी। ग्वालियर परंपरा के शिखर पुरूष राजा मानसिंह ने ही ध्रुपद शैली का अविष्कार किया। इसी घराने के नायक बख्शु एवं नायक चस्पू से ही संगीत सम्राट तानसेन ने संगीत की विधिवत शिक्षा प्राप्त की थी।।[4] ख्याल का प्रख्यात स्थल ग्वालियर, संगीत का विद्यापीठ माना जाता है। संगीत के नवीन प्रयोग, विकास, शिक्षा एवं प्रचार प्रसार में इसकी बहुत बड़ी देन है। 'ख्याल शैली' को लोकप्रिय बनाने में ग्वालियर घराने का ही सर्वाधिक योगदान रहा है।

ग्वालियर घराने के मूल नत्थन पीरबक्स खां साहब से सीखी हुयी परंपरागत गायकी एवं मुहम्मद खां से सुनी हुयी गायकी के मिश्रण से उस्ताद हस्सू खां हद्दू खां ने एक अलौकिक गायकी का निर्माण कर ग्वालियर घराने की स्थापना की।

हद्दू खां, हस्सू खां तथा नत्थू खां ये तीनों भाई प्रसिद्ध ख्याल गायक ग्वालियर नरेश के यहां दरबारी गायक थे। गुले इमाम के पुत्र मेंहदी हुसैन को 'तोड़ी' राग गाने में कमाल हासिल था। इसके बाद इस परंपरा के महाराष्ट्रीयन शिष्य बालकृष्ण बुआ इचलक रंजीकर, वासुदेव जोशी तथा बाबा दीक्षित थे। बालकृष्ण बुआ के शिष्य थे पं. दिगम्बर पलुस्कर। पलुस्कर जी ने बंबई जाकर ग्वालियर घराने की गायकी का प्रचार किया। जिसके फलस्वरूप पं. ओंकारनाथ ठाकुर, विनायक राय पटवर्धन, नारायण राव व्यास आदि प्रसिद्ध गायक हुए। इस युग में स्व. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर इस घराने के प्रतिनिधि थे। उनके बाद उनके प्रमुखतम शिष्य स्व. पं. ओंकारनाथ ठाकुर ने इस गायकी को उच्चतम शिखर पर पहुंचाया और लगभग 50 वर्षो तक देश विदेश में श्रोताओं को रस-विभोर कियां 'ख्याल गायकी' का यह प्राचीनतम घराना जिसमें ध्रुपद के बोल-बाट जैसी बोल तानें, मध्य विलम्बित लय तथा ध्रुपद की तरह विविध लयों का प्रयोग इसमें रहा है, साथ ही ध्वनि के तीन तत्वों - तारता, तीव्रता तथा गुण का संतुलन भी इसमे है। इसके अतिरिक्त काकु प्रयोग का समुचित स्थान इस शैली में विद्यमान है।

Scanned with OKEN Scanner

गायकी के क्षेत्र में ग्वालियर घराने की अपनी विशेषता हैं विशेषकर ख्याल गायन आरंभ करते समय आरंभिक स्वर प्रभावशाली आकार से मुक्त तथा जोरदार लगाया जाता है। आवाज को तीनों सप्तकों के लिए तैयार करने की दीक्षा इस घराने में दी जाती है। बिलंबित ख्याल अतिविलंबित नहीं गाये जाते। मध्य विलंबित लय इस घराने में उचित मानी गयी है। स्थायी एवं अंतरा गाने की शैली इनकी अपनी है स्थायी गाने से पूर्व प्रथम कुछ राग दर्शन आलाप किये जाते हैं और बाद में स्थायी विलंबित लय में आरंभ की जाती है। स्थायी और अंतरा एक बार स्पष्ट गा लेने के बाद ख्याल का मुखड़ा लिया जाता है और आलापचारी आरंभ होती है और फिर अंतरा में मुखड़े को लेकर तार सप्तक में आलाप किये जाते हैं। आलापचारी समाप्त होने के पश्चात बोलतानों एवं अन्य तानों की बौछार आरंभ होती है। ग्वालियर घराने की तान अपनी स्पष्टता, उत्कृष्टता तथा जोरदारी के लिए प्रसिद्ध है सीधी पल्लेदार एवं दानेदार तान इस घराने की विशेषता है। तानें लय के अनुसार ली जाती है और उनमें एक युग्म बना रहता है। गमक तथा जबड़े की तानों का प्रयोग भी इसमें किया जाता है। ग्वालियर गायकी की गति अति धीर, गंभीर, डोलदार एवं भव्य होती है।

ग्वालियर घराने के ख्याल की विशेषता यह है कि उनकी रचना विभिन्न तालो में हुयी है जैसे - झूमरा, आडा चौताल, तिलबाडा तथा विलंबित एक ताल इत्यादि।

ग्वालियर घराने की एक विशाल शिष्य प्रशिष्य परंपरा स्थापित है। इस परंपरा के अद्वितीय संगीताचार्यो में उल्लेखनीय नाम है - बाबा दीक्षित, वासुदेव बुबा जोशी, बालकृष्ण बुवा इचलक रंजीकार, देवजी बुबा परांजपे, छोटे मुहम्मद खां, रहमत खां, बंदे अली खां, रामकृष्ण बुबा बझें, विष्णु बुबा छावे, निसार हुसैन खां, बाला साहेब गुरूजी, अनंत मनोहर जोशी, विष्णु दिगंबर पलुस्कर, मिराशी बुवा, अण्णा बुबा, नानु भैया तैलग, काशीनाथ पंत, मराठे भाऊ साहब गुरूजी, शंकराव पंडित, कृष्णाराव पंडित, राजा भैया पूछवाले, ओंकारनाथ ठाकुर, विनायक बुबा पटवर्धन, नारायण राव व्यास, बी.आर. देवधर, कुमार गंधर्व, ठाकुर जयदेव सिंह, विनयचन्द्र मौदगल्य, बालाभाऊ उमेडकर, बाला साहेव पूछवाले, लक्ष्मण राव पंडित, एम राजम्, मालिती राजुरकर आदि।[5]

इस परंपरा के संगीताचार्यो में ग्वालियर में एवं ग्वालियर से अन्यत्र जाकर भारतीय संगीत को जीवित व सुरक्षित रखने मे, उसके विकास प्रचार एवं प्रसार में योजनापूर्वक कार्य करते हुए जो योगदान दिया वह अमूल्य, असमान्य और अद्वितीय है।

इस परंपरा के महाराष्ट्रीयन शिष्य बाल कृष्ण बुआ इचलकरंजीकर, वासुदेव जोशी तथा बाबा दीक्षित थे -

विष्णु दिगम्बर के शिष्य :

अनन्त मनोहर जोशी - गजानन राव जोशी (पुत्र) - शिष्य पार्शेकर

ए.टी. हलधर प. नंद किशोर - शिष्य गोपाल कृष्ण, बीजजी योग शिष्या शिशिर कणाधर चौधरी

ओंकारनाथ ठाकुर - शिष्या डा. प्रेमलता शर्मा

नारायण राव व्यास, बी.आर. देवधर

विनायक राव पटवर्धन - शिष्य जे.बी.एस. राव, सुनंदा पटनायक

किराना घराना :

इस घराने के सुविख्यात गायक अब्दुल करीम खां थे। वे मूलतः किराना (जिला सहारनपुर) के निवासी थे। खां साहब ने संगीत की शिक्षा अपने पिता काले खां और चाचा अब्दुल खां से ली। इनको ठुमरी गायन में ख्याति प्राप्त थी। इनके आलापों में अखंडता एवं एक प्रवाह सा प्रतीत होता था। सुरीलेपन के कारण इनका संगीत अंतःकरण को स्पर्श करने की क्षमता रखता था। 'पिया बिन नाही आवत चैन' खां साहब द्वारा गायी गयी यह ठुमरी बहुत प्रसिद्ध है।

उस्ताद अब्दुल करीम खां साहब की आवाज लगाने की एक विशिष्ट शैली थी जिसका दर्शन वर्तमान संगीत प्रेमी उनके रिकार्डो द्वारा अब भी कर सकते है। 1913 के लगभग पूना में इन्होने 'आर्य संगीत विद्यालय' की स्थापना की परंतु कुछ विशेष कठिनाइयों के परिणामस्वरूप इसे सन् 1920 में बंद करना पड़ा। महाराष्ट्र में मीड और कण युक्त गायकी के प्रसार का श्रेय खां साहब को ही है।

Scanned with OKEN Scanner

किराना घराने में जितना ध्यान तानपूरे की तरफ गया है उतना शायद अन्य घराने में नहीं गया। इसका स्केल आगरा घराना के विपरीत अर्थात् अधिकतर उंचा होता है। इस घराने की गायकी के प्रधान लक्षण कारूण्य, भक्तिभाव तथा प्रार्थना इत्यादि है। ये सभी गुण गोबरहारी वाणी के हैं। स्वरों का सुरीलापन और चैनदारी इस घराने की खास विशेषता है। मूलतः बीकारों का घराना होने के कारण उनकी गायकी में लगाव, लोच और मीड, का काम अधिक है। तोड़ी, पूरिया, दरबारी और मालकौंस राग इस घराने के सिद्ध राग है। आलापचारी करते समय छोटे-छोटे स्वर समूह भी बहुत कलात्मक ढंग से बारीकियों सहित प्रस्तुति दी जाती है। इनकी गायकी में ठहराव होता है तथा सीधे-सादे राग अधिक गाये जाते है। इन घरानो के संगीतज्ञो के अनुसार स्वर गायकी की आत्मा है।। आजकल इस घराने के गायकों में तानों में खंड मेरू पद्धति का प्रयोग किया जाता है। और यह रसिकों के सामने बड़े मर्मस्पर्शी ढंग से ढ़ाला। श्री जी.एन. घोष का निम्न कथन किराना घराने की गायकी के चरित्र को इस प्रकार रेखांकित करता है -

"किराना घराना ने ठुमरी को बहुत ही उदारता से स्वीकार किया क्योंकि ठुमरी में भाव प्रधानता को अधिकतर प्रधानता दी गयी है। किराना घराने की गायकी का ढंग बहुत प्रभावपूर्ण एवं कलात्मक होने के कारण ठुमरी गायन पर भी इन्होने असामान्य अधिकार प्राप्त कर लिया। यह गायकी आलाप प्रधान है। ताल के गौण होते हुए भी स्वरांश के इस हद तक मधुर, सूक्ष्म एवं लोचयुक्त बनाया है कि ताल की कमी महसूस ही नही होने पाती।[6]

अब्दुल करीम खां के पश्चात् इसी घराने के दूसरे प्रतिनिधि गायक वहीद खां रहे, जिनकी शिक्षा अपने चाचा कोल्हापुर के हैदर खां से हुई। इनकी गायकी का मुख्य अंग आलाप था। राग के एक एक स्वर को लेकर तथा उसे प्रधानता देकर बारी बारी से वे बढ़त करते, यद्यपि लयकारी का अंग उनकी गायकी में विशेष रूप से नहीं था, किन्तु उनकी ताने बड़ी विकट और चक्करदार होती थी, जिन्हें सुनकर श्रोतागण आश्चर्यचकित रह जाते थे। इनके अतिरिक्त स्व. सवाई गंधर्व, स्व. पं. सुरेश बाबू आदि इस घराने के कलाकार थे। सवाई गंधर्व अत्यंत सुरीले गायक थे। चीज की बंदिश, लय की तारतम्यता, स्वर या बोलो को कहने का ढंग और उनकी तान की झपट विलक्षण थी, इसे शब्दों में नहीं पिरोया जा सकता।

वर्तमान में किराना घराने के चर्चित कलाकारो में गंगूबाई हंगल, उस्ताद रजब अली खां, उस्ताद अमीर खां, रोशन आरा वेगम, हीराबाई बड़ोदकर, भीमसेन जोशी, प्रभा अत्रे आदि है। प्रभाजी में उस्ताद अमीर खां जी की गायकी का अंग है। भीमसेन जोशी जी की आवाज बुलन्द है। राग-विस्तार, तान में विविधता तथा अद्‌भुत सुरसौन्दर्य प्रदर्शन के बल पर पं. भीमसेन जोशी आज के सर्वाधिक लोकप्रिय गायक है।

1. अब्दुल करीम खां के शिष्य - अबुल वरीद, गणेशचन्द्र बहरे

2. अब्दुल वहीद के शिष्य - हीराबाई बड़ौदकर

3. राम भाई कुन्द गोपालकर के शिष्य - गंगू बाई हंगल, वासव राज, राजगुरू, भीमसेन जोशी, सरस्वती बाई राणे।

संदर्भ :

1. Goswami G.N., Understanding Indian Classical Music, p. 260
2. जोशी उमेश, उत्तर भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. -47
3. पराणजपे शरतचन्द्र, संगीत बोध, पृ.-183
4. Joshi G.N., Houses of Traditions, p. 38
5. संगीत पत्रिका, बांगरे अरूण, लेख-ग्वालियर संगीत परंपरा और उसका भारतीय संगीत में योगदान, दिसंबर 1985, पृ.-34
6. संगीत पत्रिका, बांगरे अरूण, लेख-ग्वालियर संगीत परंपरा और उसका भारतीय संगीत में योगदान, दिसंबर 1985, पृ.-34
7. संगीत पत्रिका, ख्याल अंक, जनवरी-फरवरी 1976, पृ.-43
8. संगीत पत्रिका, ख्याल अंक, जनवरी-फरवरी 1976, पृ.-41

Scanned with OKEN Scanner

संगीत एवं धर्म का अन्तःसम्बन्ध

डॉ. ऋचा पाण्डेय

संगीत आदिकाल से हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों की भक्ति, ईश्वर प्राप्ति एवं मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना गया है। भारतीय ललित कलाओं की आधार-भूमि भौतिक विलास न होकर धार्मिक अनुभूति रही है। भारत सदैव धर्म प्रधान देश रहा है। यही कारण है कि यहां की समस्त कलायें, दर्शन, चिन्तन आदि इसी ओर उन्मुख रही है।

दार्शनिकों के कथानुसार कला वह है जो मुक्तिदायक हो, जिसका उद्देश्य आत्मानुभूति हो। भारतीय ललित कलाओं की आधारभूमि भौतिक विलास न होकर धार्मिक अनुभूति रही है। संगीत कला की उत्पति स्थल यद्यपि मानवीय भावनायें व अनुभूतियां हैं तथापि इस कला का विकास धर्म के साये में हुआ है। लौकिक परंपराओं और मान्यताओं के साथ रहते हुए धार्मिक परंपराओं के बीच संगीत फलता फूलता रहा है और भारत सदा से धर्म-प्रधान देश रहा है। अतः यहां संगीत कला इसी ओर उन्मुख रही है।

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है - धारण करना या बनाये रखना। इसका तात्पर्य यह है कि जो तत्व संपूर्ण संसार के जीवन को धारण करता हो, जिसके बिना संसार में व्यक्ति की अवस्थिति संभव न हो वही धर्म है। धर्म एक विश्वास, एक भावना और संकल्प की व्यवहारिक क्रिया है अथवा धर्म भावना, बुद्धि व क्रिया का समुच्चय है।

डॉ. राधाकृष्णन का कथन है कि "जिन सिद्धांतों के अनुसार हम अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा जिनके द्वारा हमारे सामाजिक संबंधों की स्थापना होती है वही धर्म है।

मैक्समूलर धर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृति है जो मनुष्य को अनन्त सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम बनाती है।"

पुराण संहिता में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि "वे क्रिया धर्म है जो तामस और राजस के सिद्धान्तों का दमन करती है तथा न्याय के सिद्धान्तों की वृद्धि करती है।" धर्म शब्द का गूढ़ अर्थ में प्रयोग मानवीय शक्तियों के लिए है, लेकिन पुराण और शास्त्रों में धर्म अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। इन्द्रियों के कार्य भी धर्म नाम से रूपायित होते हैं। जैसे मन का धर्म है - चिंतन।

धर्म का लक्ष्य मनुष्य को सत्य मार्ग दिखाकर उसकी सांसारिक एवं आध्यात्मिक उन्नति करना हैं सभी धर्मों का उद्देश्य मनुष्य का कल्याण करना रहा है। अतः हम देखते हैं कि धर्म के धारण एवं आचरण से हमारे जीवन का कोई भी पक्ष शून्य नहीं है। इस प्रकार भारतीय विचारधारा में धर्म का स्थान सबसे उपर रखा गया है। जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है, जहां धर्म की धारणा न हो। धर्म की रक्षा करना भी भारतीय परंपरा में मनुष्य का परम कर्तव्य माना गया है। वेदों में तो यहां तक कहा गया है कि धर्म के सहारे पर ही प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्थित है - "धर्मो विश्वस्य जात प्रतिष्ठा।" इस बात से हम भली-भांति परिचित हैं कि संगीत का प्रारंभ धार्मिक भावनाओं के स्फुरण एवं उनकी अभिव्यक्ति से हुआ। विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों में धर्म एवं संगीत का गहरा संबंध रहा। चाहे सीरिया हो, मिस्र,

प्रवक्ता, संगीत गायन विभाग, आ.न.दे.न.नि.म. महाविद्यालय, हर्षनगर, कानपुर

Scanned with OKEN Scanner

यूनान हो या भारत, सभी सभ्यताओं में संगीत का जन्म भक्ति भावना से हुआ है और इसी में उसका निरंतर पल्लवन और विकास भी हुआ है।

जिस प्रकार सभी धर्मों का उद्देश्य मानव को ईश्वर तक ले जाना है उसी प्रकार संगीत का उद्देश्य मनुष्य को मोक्ष प्रदान करना है। इस प्रकार, धर्म व संगीत का घनिष्ठ संबंध है। भारत आध्यात्मिक और धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत देश है। चंचल मनः प्रवृतियों का निराकरण कर चित की एकाग्रता से मानव मंगल की सिद्धि है। यही संगीत संबंधी भारतीय दृष्टिकोण है। संगीत के संबंध में प्राचीन दार्शनिकों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक रहा है।

संगीत कला है और कला तथा धर्म का अटूट संबंध सर्वथा मान्य है। मानव जीवन के तीन आदर्श सत्य, शिव तथा सुंदर धर्म के भी तीन स्तंभ है। कला इन्हीं में से सुंदर को मूर्त रूप प्रदान करती है। मानव में निहित चित्त शक्ति ही रंगों द्वारा चित्रों में मूर्तियों द्वारा आकार ग्रहण करती है, वही शब्दों (ध्वनि) के माध्यम से संगीत का रूप लेती है। अतः कला में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति एन्द्रिक साधनों द्वारा होती है। यहां हींगल का कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि कला अध्यात्मिकता एवं ऐन्द्रिकता का मिलन है, अतः दोनों में संबंध होना स्वाभाविक है।

धर्म का सिद्धान्त है व्यक्ति को सभ्य प्राणी बनाना एवं उसको दया का, विचारशीलता का एवं दूसरों के प्रति आदर का भाव सिखाना। ईश्वर तक पहुंचने के कई रास्ते हैं, किन्तु संगीत इन सबमें सरल एवं आनन्ददायक रास्ता है। ईश्वर को नाद ब्रह्म का रूप दिया गया है। इसका यह अर्थ है कि कोई भी ईश्वर तक संगीत के रास्ते पहुंच सकता है। हमारे देश मे आज तक ईश्वर भक्ति और आराधना के पवित्र भावों में रचे हुए संगीत का पालन पोषण हमारे मंदिरों, गिरिजाघरों, गुरूद्वारों, मस्जिदों इत्यादि में हो रहा है।

स्वर-लय में निबद्ध शब्द अत्यंत शक्तिशाली हो जाते हैं। वे लोगों के मन में प्रविष्ट होकर उनकी स्मृति पटल पर अंकित होकर उनकी विचार धारा को प्रभावित करते हैं। इसलिए ज्ञानोपयोगी अथवा उपदेश संबंधी बातें गद्य की अपेक्षा प्रायः पद्य में अधिक पायी जाती है। एक मतानुसार संगीत की उत्पति वेद के बीजमंत्र 'ओम्' से हुई जो तीन शक्तियों का द्योतक है - 'अ' (ब्रह्मा) 'उ' (विष्णु) 'म' (महेश)। संगीत के सप्त स्वर इसी में अन्तर्निहित है।

संगीत की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गयी है। ब्रह्मा ने शिव को तथा शिव ने सरस्वती को यह विद्या दी। सरस्वती को आज भी संगीत तथा विद्या की अधिष्ठात्री के रूप में पूजा जाता है। संगीत के आधार "राग" भी शिव तथा पार्वती द्वारा उत्पादित माने गए हैं। शिव के पंचमुखों से भैरव, हिण्डोल, मेघ, दीपक तथा श्री रागों की उत्पति हुई तथा पार्वती के मुख से कौशिक राग की। भगवान शंकर के डमरू की ध्वनि से जहां पाणिनि के 14 सूत्रों का सूत्रपात हुआ, वहीं संगीत का प्रादुर्भाव हुआ। नृत्य का जनक भी शिव-पार्वती को माना जाता है। शिव का ताण्डव नृत्य तथा पार्वती का लास्य नृत्य सभी नृत्यों की जननी है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण वंशी (मुरली) तथा रास नृत्य के प्रणेता थे।

वाद्यों के विभिन्न प्रकारों में देवी-देवताओं के नाम उपलब्ध हैं। तार वाद्यों में रूद्र वीणा, सरस्वती वीणा, दत्तात्रेय वीणा, ऐन्द्री वीणा, किन्नरी वीणा, ब्रह्म वीणा आदि। इसी प्रकार तालों में रूद्रताल, ब्रह्मताल आदि है। शास्त्रीय नृत्य चाहे कत्थक हो अथवा कुचीपुड़ी अथवा भरतनाट्यम या मणिपुरी सभी विषय शिव, राधा-कृष्ण, कृष्ण-गोपी कृष्ण लीला आदि होते हैं। भरतनाट्यम तो प्रायः कृति पर किया जाता है जो भक्ति रचना होती है।

प्रबंन्धों की रचना के विषय भी ईश्वर या धार्मिकता से संबंधित होते हैं। ध्रुपद में अधिकांशतः शिव प्रमुख विषय हैं, फिर देवी, गणेश आदि भी हैं तो धमार में राधा-कृष्ण विशेष हैं।

एक ओर जहां रागों के नाम भैरव, भैरवी, शंकरा, नारायणी गौरी आदि देवताओं के नाम पर मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर राग ध्यान परंपरा व रागों के चित्रांकन में भी देवताओं को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस प्रकार के ध्यान तथा रागों के चित्रांकन में भी देवी-देवताओं का उल्लेख व चित्रण मिलता है। हिन्दू धर्म के प्रमुख ग्रंथ रामायण, गीता आदि

Scanned with OKEN Scanner

संगीतमय हैं। पद्य रूप में होने के कारण वे गेय हैं। सभी प्रमुख धार्मिक ग्रंथ पद्य में हैं और इनका एक-एक शब्द दीर्घकाल से लोगों के मन को अमरत्व प्रदान करता आ रहा है। ईश्वर की उपासना चाहे वह हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन अथवा किसी भी धर्म में हो, प्रार्थना, स्तुति, आराधनाएं सभी सदैव संगीतबद्ध होती है। हिन्दू भजन-आरतियां गाते हैं तो जैन लोग भजन गाते हैं, सिख गुरूवाणियों का गान करते हैं तो मुसलमान नात गाते हैं।सभी धर्मों में एक शक्ति की आराधना गाकर करते हैं।

रागबद्ध धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त ऐसी रचनाायें भी प्राप्त हैं जो गेय काव्य में हैं और केवल धार्मिक होने के नाते विशेष पूजा-अर्चना के निमित्त लिखी गयी है। जैसे घरों में प्रचलित भजन और कीर्तन के संग्रह, जो प्रसिद्ध कवियों के द्वारा नहीं रचे गए थे, वरन उस समय गायन में प्रचलित थे। ईश्वर की पूजा के लिए लिखी गयी सूक्तियां स्तुति के लिए अनेक कविताओं और आरती-गीतों की रचनाएं हुई। स्तुति अथवा प्रशस्ति गीत केवल ईश्वर संबंधी ही नहीं लिखे गए, अपितु राजाओं के गुणगान के लिए भी लिखे गए। लगभग सभी देवताओं के लिए आरती गीतों की भी रचना हुई।

धर्म और संगीत का प्राचीनतम संबंध वैदिक संगीत की व्यापकता के विशिष्ट कारणों से सिद्ध होता है और यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि सांगीतिक उपासना का भाव विश्व को वैदिक युग से प्राप्त हुआ। वैदिक काल में संगीत का स्वरूप पवित्रतम था। आर्य अपने देवताओं की उपासना संगीत के माध्यम से करते थे। वेदों में सामवेद तो पूरा संगतीमय ही है। सामवेद का दर्शन ऋचाओं को गेयता प्रदान करने के लिए किया गया था। ऋग्वेद के वे मंत्र जिनमें देवताओं की स्तुति की गई है और जिन्हें गाया जा सकता है, 'साम' के ही रूप में महर्षि वेद व्यास ने संगृहीत किये। वैदिक यज्ञानुष्ठान एवं विभिन्न संस्कारों में सामगान का विशेष महत्व था। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है -

"अयज्ञोवा एषः योसामा" (2/5/8) अर्थात जिस यज्ञ में सामगान न हो, वह यज्ञ नहीं है।

संगीत को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भगवत गीता में अर्जुन को अपना स्वरूप समझाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं -

"वेदानां सामवेदोस्मि देवनामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूता नामास्मि चेतना।।"

अर्थात् सामवेद की गरिमा को प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण जी कहते हैं - "वेदो में सामवेद हूं" उनके इस कथन से स्पष्ट होता है कि उन्हें भी वेद-चतुष्टय में 'सामवेद ही सबसे अधिक भाया है। इस आशय में यह उल्लेखनीय है कि सामवेद ऋग्वेद का ही गेय रूप है।

वैदिक काल में संगीत मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना जाता था। इसकी पुष्टि 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के इस श्लोक से होती है–

अर्थात् वीणा वादन का तत्व जानने वाला श्रुति और जातियों में विशारद तथा ताल का ज्ञाता बिना प्रयास ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। 'विष्णु पुराण' में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि से स्वर्णादि धातुओं के मल का नाश होता है उसी प्रकार भक्तिपूर्वक किया हुआ भगवत-कीर्तन सभी पातकों का नाश करने का उत्तम साधन है। वैदिक युग से ऐसी मान्यता प्रबल हुई कि ईश्वर का साक्षात्कार संगीत के माध्यम से सरलता से किया जा सकता है। ऐसा श्लोक से भी स्पष्ट है -

"विष्णुनामानि पुण्यानि सुस्वरैन्वितानि चेत,
भवति सामतुल्याणी कीर्तितानि मनीषिभिः।

अर्थात् विष्णु भगवान के पवित्र नाम का यदि सुंदर स्वरों सहित विद्वानों द्वारा गायन किया जाए तो वे भी 'सामवेद' की ऋचाओं के समान ही फलद होते हैं। पुराणों में तो यहां तक कहा गया है कि "विलज्जते उद्गायन्ति, नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।' अर्थात् जो लज्जा छोड़कर उच्च स्वरों में गायन गान करता है, नृत्य करने लगता है ऐसा भक्त समस्त लोगों को पवित्र करता है। यह धर्म और संगीत की चरम सीमा कही जा सकती है।

भगवान श्रीकृष्ण के समान कुशल वंशी वादक आज तक उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने स्वयं को प्राप्त

Scanned with OKEN Scanner

करने व मोक्ष प्राप्ति का सरलतम उपाय भक्ति संकीर्तन को बताया है। भगवत पुराण में नारद से श्रीकृष्ण कहते हैं -

"नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिना हृदये न च,
मदभक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद।"[3]

अर्थात् न तो मैं वैकुण्ठ में रहता हूं और न योगियों के हृदय में। मेरे भक्त जहां मेरे गुणों का गान करते हैं, हे नारद! मैं वहीं रहता हूं।

आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहली शताब्दी ईसा पूर्व तक संगीत की मीमांसा करने पर 'सूत्र-ग्रंथों' एवं 'जातक ग्रंथों' में संगीत की विभिन्न धारायें दृष्टिगोचर होती हैं, अर्थात् धार्मिक ग्रंथों में वे दिखती हैं। पाणिनी कृत 'अष्टाध्यायी' और शिक्षा एवं प्रतिशाख्यों में भी संगीत की पहचान धार्मिक निष्ठा से परिपूर्ण ही प्रकट हुई। 'मनु-स्मृति' के रचयिता मनु सामवेत्ता संगीतकारों की सभा को ब्रह्मा की सभा से तुलनीय मानते थे।[4]

'भगवद्गीता' के समय से भक्ति-मार्ग को स्वतंत्र रूप प्राप्त हुआ। महाकाव्य काल में संगीत ने योग का रूप ले लिया था। संगीतज्ञ संगीत की उपासना योग के रूप में करते थे।

"संगीत एक यौगिक विद्या है, जिसकी तीव्र तथा तीव्रतर ध्वनियां मनुष्य में स्नायुओं को झंकृत कर सुषुप्त कुंडलिनी को जाग्रत कर देती है तथा मानव को आत्मानुभूति की चरम सीमा मोक्ष के द्वार तक पहुंचा देती है जो भारतीय जीवन दर्शन का अंतिम लक्ष्य है।"[5] अतः यौगिक क्रियाओं से भी संगीत के द्वारा परमात्मा से संबंध स्थापित करना संभव है। भारतीय कलाकारों ने संगीत को कभी साध्य नहीं माना, बल्कि अपने उद्देश्य (मोक्ष-प्राप्ति) हेतु सदैव इसे एक सशक्त साधन के रूप में स्वीकार किया।

संगीत का आधार जो कि नाद है, उसकी उपासना, साधना से सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं, समस्त जगत नाद के अधीन है व नादमय है।

"जीवन रूपी संगीत ही नादब्रह्म या वाग्देवी की वीणा है, जिसके सप्तक में शिव के आनन्द की सप्त धारायें मूर्त रूप ग्रहण करती हैं। संगीत की सच्ची साधना वही है जिसके फलस्वरूप मानव का मन उस उच्चतर सूक्ष्मानाद का अनुभव करने के योग्य बन सके।"[6]

नादोपासना योग मानी जाती है और योग आत्म प्राप्ति अथवा मोक्ष का एक मार्ग है। संपूर्ण जगत, प्रकृति, यहां तक कि ईश्वर भी नाद रूप है इसलिए वहीं निवास करता है, जहां उसका गान होता है। स्पष्ट है कि संगीत का संबंध हर काल व परिस्थिति में धर्म से रहा है।

मध्यकाल में यवनों के आक्रमण के फलस्वरूप संगीत प्रभावित हुआ और धर्म से विलग होने पर संगीत का उद्देश्य आत्मोन्नति न रहकर मात्र मनोरंजन रह गया। ऐसे समय में माधवाचार्य, वल्लभाचार्य और उनका अष्टछाप-सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु, संत ज्ञानेश्वर, त्यागराज, स्वामी हरिदास आदि भक्त गायकों ने तथा सूर, तुलसी, मीरा जैसे पद रचयिताओं ने संगीत के बदलते स्वरूप को पुनः धार्मिक दिशा दी। शास्त्रीय तथा लोक संगीत में इन भक्तों ने राधा कृष्ण के युगल स्वरूप को इस प्रकार रमा दिया कि वे संपूर्ण भाव-जगत की वस्तु बन गए। इन भक्तों एवं संगीतज्ञों ने भक्तिपूर्ण नये-नये पदों की रचना कर तत्कालीन राग-रागनियों में उन्हें निबद्ध किया। भारतीय संगीत की ध्रुपद शैली को साहित्य से समृद्ध करने का श्रेय इन्हीं पदावलियों को है। सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि भक्तों के भजनों को विभिन्न रागों में बांधकर नये ख्यालों का सृजन किया गया है।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' एवं शारंगदेव के 'संगीत-रत्नाकर' आदि ग्रंथों में संगीत को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रदायक बताया गया है।

डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे जी के मतानुसार, "संगीत कला का उद्भव भले ही मानव की सहज भावना एवं अदम्य प्रेरणाओं के अभ्यंतर से हुआ हो, उसका विकास तथा लालन-पालन धर्म के गर्भ में हुआ है।" यह वक्तव्य ऐतिहासिक तौर पर सिद्ध है।

भक्ति संगीत की यह धारा वैदिक काल के बाद 'रामायण', 'महाभारत' तथा पुराणों से होती हुई आधुनिक काल तक चली आ रही है। भक्ति संगीत का विकास मठों, मंदिरों एवं अन्य धर्मस्थलों में होता रहा। संसार में जब तक संगीत है, तब तक

Scanned with OKEN Scanner

यह भी रहेगा, क्योंकि यह संगीत सीधे हृदय से निकलता है।

भारत में संगीत का धर्म से अलगाव कभी नहीं हुआ, बल्कि हर काल व परिस्थिति में संगीत तथा ईश्वर-स्तुति एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह रहे हैं। विद्वानों का मत है कि संगीत की सत्ता से पृथक ईश्वर की सत्ता नहीं है। यदि हम ईश्वर तक पहुंचना चाहते हैं तो संगीत के माध्यम को पकड़ लें। ऐसी दिव्य शांति संसार में अन्य किसी भी माध्यम से नहीं मिलती, जैसे संगीत से मिलती है। अतः धर्म एवं संगीत में अटूट अंतः सम्बन्ध होना स्वभाविक है।

संदर्भ :

1. श्रीमद्भागवत गीता, पृ. 436
2. याज्ञवल्क्य शिक्षा, श्लोक-115
3. शर्मा (डॉ.) स्वतंत्र, भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 14
4. सिंह डॉ. राजेन्द्र, भारतीय संगीत का समाज शास्त्रीय संदर्भ, पृ. 91
5. शर्मा (डॉ.) स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, पृ. 301
6. अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण, संगीत पत्रिका, पृ. 307

Scanned with OKEN Scanner

पुष्टि मार्गीय सम्प्रदाय में श्री सूरदासजी का सांगीतिक अवदान

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

अष्टसखा मध्ययुगीय शास्त्रीय संगीत के प्रणता रहे हैं। भक्त-शिरोमणि श्री कुम्भनदासजी, श्री सूरदासजी, श्री परमानन्ददासजी, श्री कृष्णदासजी, श्री गोविन्द स्वामीजी, श्री चतुर्भुजदासजी, श्री नन्ददासजी, श्री छीतस्वामीजी, उक्त आठ भक्त जिन्हें 'अष्टसखा' तथा 'अष्टछाप' भक्त के नाम से विख्यात है।

अष्टसखा-मध्ययुगीन धार्मिक सम्प्रदाय श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्यजी द्वारा संस्थापित श्रीवल्लभ सम्प्रदाय के दीक्षित शिष्य थे। तत्कालीन आचार्यो ने अपने ईश्वर श्रीनाथजी (श्रीबालकृष्ण स्वरूप) की प्रतिदिन की सेवा-पूजा में श्रृंगार-भोग तथा राग-सेवा का भव्य स्वरूप स्थापित किया। अष्टसखा अथवा अष्टछाप के भक्तगण श्रीवल्लभ सम्प्रदाय अथवा पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय के दीक्षित शिष्य थे। श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्याजी के शिष्य श्री कुम्मनदासजी, श्रीसूरदासजी, श्री परमान्नदासजी तथा श्री कृष्णदासजी एवं आचार्य श्रीविठ्ठलनाथजी के शिष्य श्री गोविन्द स्वामीजी, श्री छीतस्वामीजी, श्री चतुर्भुजदासजी तथा श्री नन्ददासजी थे। उपर्युक्त सभी भक्तगणों में ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव था। इसी के साथ वे कवि एवं संगीत मर्मज्ञ थे। अष्टसखाओं की संगीत विद्वता के कारण संगीत का स्वरूप भी उतना ही पवित्र तथा महान रहा है। श्री कृष्ण की सेवा का प्रत्येक कार्यकलाप को संगीत के माध्यम से पूर्ण किये जाने का प्रावधान रहा है। अतः राग सेवा अथवा कीर्तन सेवा की व्यवस्था हेतु अष्टसखा नियुक्त किये गए। श्रीवल्लभ सम्प्रदाय में भक्ति साधन है तो संगीत साध्य भी है। भक्ति कर्ता है तो संगीत कर्म है। भक्ति भाव है तो संगीत उसकी भाषा है। प्रारंभ से ही संगीत के बिना इस सम्प्रदाय में भक्ति का अस्तित्व ही नहीं है। सम्प्रदाय के साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं कि जबतक कीर्तन नहीं किया गया तब तक ईश्वर भोग स्वीकार नहीं किया। श्रीकृष्ण की सेवा में संगीत का प्रमुख उपदान के रूप में प्रस्तुत करने की व्यवस्था के परिणाम स्वरूप अष्टसखा नियोजन द्वारा श्री वल्लभ सम्प्रदाय में संगीत की अद्‌भुत एवं स्वर्णिम परंपरा का प्रारंभ हुआ। श्रीवल्लभ संप्रदाय के संगीत की महान परंपरा के भव्य स्वरूप के निर्माता अष्टसखा ही रहे हैं। अष्टसखाओं के विषय में यह प्रसिद्ध है कि आठो सखाओं को श्रीकृष्ण का सानिध्य प्राप्त था। अतः श्रीकृष्ण की समस्त लीलायें चाहे वे कितनी ही अंतरंग हो, उनका प्रत्यक्ष अनुभव कर उसका गान करते थे। इन भक्तों के पदों से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण के उपासक होने के साथ-साथ संगीत के अनन्य साधक रहे हैं। उनके पद में गायन, वादन एवं नृत्य तीनों ही रूपों की अभिव्यक्ति का प्रस्तुतिकरण बड़े ही सुन्दर एवं शास्त्रीय रूप से किया है। अष्टसखाओं में भक्तकवि एवं संगीत शिरोमणि श्री सूरदासजी श्रीवल्लभ सम्प्रदाय के सर्वोच्च भक्त के पदों में वर्णित संगीत वैभव के कुछ उदाहरण के विषय में प्रस्तुत है -

भारतीय संस्कृति का मूलाधार धर्म है। धर्म और संगीत का अटूट संबंध वैदिक युग से चला आ रहा है। अनेक योगियों एवं महर्षियों के चिंतन मनन और सतत् साधन से ही संगीत का स्वरूप स्थिर

प्रवक्ता, फेकेल्टी ऑफ परफॉर्मिंग आर्टस्, एम.एस.यूनिवर्सिटी, बड़ौदा (गुजरात)

Scanned with OKEN Scanner

हुआ जिसके अंतर्गत संगीत का विशिष्ट लक्ष्य भी इष्टदेव की अराधना, मोक्ष प्राप्ति अथवा 'परम सत्य' की प्राप्ति ही रहा है। संगीत का मूलाधार नाद है और धर्म का आधार भक्ति। प्राचीन ग्रंथों में 'नाद' की महिमा का वर्णन करते हुए (मतंगकृत वृहद्देशी) में कहा गया है -

न नादेन बिना गीतं न नादेन बिना स्वराः।
न नादेन बिना नृतं तस्मान्नादात्मकं जगत्।।
नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपः परा शक्तिर्नादरूपो महेश्वरः।।

अर्थात् नाद के बिना न स्वर है, न गीत है, न नृत्य है, यहां तक कि संपूर्ण जगत ही नाद पर अवलंबित है। ब्रह्मा,विष्णु महेश भी नादरूप है, उनकी पराशक्ति भी नाद रूप है। इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि ही नादात्मक है। नाद को ही चैतन्य, अद्वितीय, आनंदात्मक, नादब्रह्म आदि बताते हैं। संगीत और भक्ति का अनोखा उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं -

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

अर्थात् न तो मैं वैकुण्ठ में बसता हूं और न योगियों के हृदय में। हे नारद मेरे भक्त जहां गायन करते हैं वहीं मेरा निवास रहता है।

न नादेन बिना गीतं न नादेन बिना स्वरः।
न नादेन बिना नृत्यं तस्मान्नादात्मकं जगत्।।

अर्थात् न तो नाद बिना गीत है, न नाद के बिना स्वर है, न नाद के बिना नृत्य है यह समस्त जगत ही नादोत्मक है।

पूजाकोटिगुणं स्तोत्रं स्तोत्रात्कोटिगुणो जपः।
जपात्को हिगुणं गानं गानात् परतरः न हि।।

अर्थात् पूजा से करोड़ गुना श्रेष्ठ स्त्रोत होता है, स्त्रोत से करोड़ गुना जप और जप से करोड़ गुना गान श्रेष्ठ होता है। गान से परे कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार पुष्टिमार्गीय भक्ति के अंतर्गत प्रभु के स्वरूपानन्द का पान करना ही सर्वोत्तम फल माना गया है। प्रभु और भक्त को एक दूसरे के प्रति अटूट प्रेम होना ही इस भक्ति का लक्ष्य है। पुष्टिमार्गीय भक्ति में आरंभ से अंत तक विशद प्रेम की प्रधानता को 'प्रेमलक्षणा भक्ति' कहा गया है।

भक्त कवि एवं संगीत शिरोमणि श्रीसूरदासजी श्रीवल्लभ संप्रदाय के सर्वोच्च भक्तों में से थे। श्री सूरदास जी ने श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। श्री सूरदासजी के बारे में मान्यता है कि उन्हें श्रीकृष्ण की समस्त अंतरंग लीलाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता था।

पं. रामचन्द्र शुक्ल ने श्री सूरदासजी के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, 'आचार्यो की छाप लगी हुई जो आठ वीणायें श्रीकृष्ण की प्रेम लीला कीर्तन करती थी उनमें सबसे उंची, सुरीली और मधुर झंकार अंधे कवि श्री सूरदासजी की वीणा की थी।'[1]

शुक्लाजी का यह कथन काफी सही है क्योंकि श्री सूरदास जी ने अपने कीर्तन में श्रीकृष्ण के सभी भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति की है। उनके पदों के वात्सल्य भाव में शिशु की समस्त बाल क्रीड़ायें जो कि अति स्वाभाविक है का चित्रण किया है।

श्री सूरदास जी का जन्म सीही[2] (दिल्ली और आगरा के निकट) में तथा दूसरी मान्यतानुसार रूनकता[3] (आगरा मथुरा के बीच) ग्राम में सं. 1987 के लगभग माना जाता है। आप नेत्रहीन होते हुए भी आप दिव्य दृष्टि संपन्न थे आप दिव्य दृष्टि के कारण अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रत्येक भावों को बड़ा हृदयग्राही एवं सजीव चित्रण अपने पदों एवं कीर्तन में किया है आप श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। आप अपने अंतर्चक्षु से सगुन बताने में भी निपुण माने जाते थे।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व श्री सूरदासजी की गायनविद्या की ख्याति का वर्णन प्रति होता है। 'श्री सूरदासजी का कंठ बहौत सुंदर था। सो गान विद्या में चतुर और सुगम बतावैं में चतुर। सौ उहां हूं बहैत लोग सूरदासजी के पास आवते। उहां हूं सेवक बहौत भयै। सो सूरदास जगत में प्रसिद्ध भयै[4]' सूरदासजी द्वारा रचित पदों में सांगीतिक तत्व कुछ इस प्रकार है- प्रारंभिक जीवनकाल में विनय के पद गाया करते थे सो सूरदासजी ने आचार्यश्री महाप्रभुजी के आगे एक पद गायो सो पद - राग धनाश्री में निबद्ध है-

Scanned with OKEN Scanner

'हो हरि सब पतितन को नायक'
फेरि दूसो पद और गायो सो पद-राग धनाश्री
प्रभु रो सब पतितन को टीको।[5]

बाद में श्रीवल्लभाचार्यजी से संपर्क होने पर उन्होंने आचार्यजी से संप्रदाय का रहस्य समझा और फिर सिद्धांतों को अपनाते हुए सूरदासजी ने असंख्य पद राग-रागिनियों में रचे।

श्रीवल्लभ गुरू तत्व सुनायों, लीला भेद बतायौ
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।[6]

तत्पश्चात् आचार्यजी से संपूर्ण 'सुबोधिनी' नामक ग्रंथ सुनने पर उन्हें हृदय में श्रीकृष्ण की लीला का स्फुरण हुआ। श्री सूरदासजी के तीन ग्रंथ प्रकाश में आते हैं -

'सूर सागर', 'सूरसारावली' तथा 'सूर साहित्य'। परंतु इस ग्रंथों के अतिरिक्त इनकी कुछ छोटी-छोटी स्वतंत्र रचनायें भी प्राप्त होती हैं तथा सूरसाक्षी, सूर-पच्चीसी, सेवाफल सूरदास के विनय पद। डॉ. दीनदयालुजी के अनुसार सूर के नाम से छपे हुए ग्रंथों के अवलोकन से सूरदास कृत कहे जाने वाले कुल 24 ग्रंथ प्राप्त होते हैं।[7] सांगीतिक अध्ययन के अंतर्गत सूरदासजी की तीन बड़ी रचनाओं में से दो ही रचनाएं 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' में संगीत के उपर विस्तार रूप से चर्चा की गई है। इस ग्रंथ में सूर के संगीतज्ञ होने का भी ठोस प्रमाण मिलता है।[8] सूरदासजी ने संगीत कला को भक्ति के आध्यात्मिक लोक में प्रवेश कराया। वे कीर्तन के अंतर्गत श्रीकृष्णलीलाओं को संगीतबद्ध कर अपने इष्ट को रिझाने के लिए गाते थे। सूरदासजी ने 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' में अनेक राग रागिनियों का वर्णन किया है। सूरसागर में इनके रचित 4936 पदों में निम्न लिखित रागों का उल्लेख मिलता है-

आसावरी, आड़ाना, झिझोटी, विहाग, जंगला, मुलतानी, धनाश्री, नायकी, जैजैवन्ती, गौड, मेधमल्हार, श्री पलासि, रामकली, अल्हैया, बिलावत, गूजरी, सूही, देवगंधार, सारंग, विहागरा, विभास, सौरठ, केदार, गैड़मल्हार, मल्हार, सोरठ कल्याण, काफी, सुधराई, देवसाख, गंधारी, ललित, इमन, शंकराभैरव, भैरव, हमीर, पूरिया, भूपाली, विभाष, विलनता, श्रीराजी, श्रीरठी, रामदासीमल्लार, बसंत, परज, कान्हरा, मालबकौशिक, रागरागिनीस बंगाली, हिडोल, देवगिरि, मालव, पंचम, षटपदी, रागराङ्गीरामगिरि, रामगोपाल, वसंती, पट्पदी, गंधार नटनाराणी, संकीर्ण, राग होरी मुलतानी, धनाश्री, विलावल, रामकली, राग धमार, सानूत।

उपर्युक्त रागों की सूची से यह ज्ञात होता है कि श्री सूरदासजी ने मिश्र रागों का भी प्रयोग किया हैं शैली के आधार पर भी राग का नाम अंकित किये हैं, जैसे धमार राग होरी।

श्री सूरदासजी ने अपने पदों में संगीत के तीनों अंगों - गायन, वादन एवं नृत्य का बड़ा सुंदर विश्लेषण किया है। गायन के स्वरूप में स्वर, अलंकार, ग्राम, मूर्च्छना, सरगम, ताल, राग, गान शैली, वाद्य, ताल आदि का उल्लेख श्री सूरदासजी के संगीत पांडित्य का द्योतक है। उपर्युक्त उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि अष्टछाप संगीताचार्य भक्त कवि श्री सूरदासजी संगीत दृष्टिगत होती है। साथ ही श्रीकृष्ण के विभिन्न लीलात्मक प्रसंगों का चित्रण बड़ा ही सुंदर एवं स्वाभाविक तथा मर्म-स्पर्शी है। इन समस्त भावों में शास्त्रीय संगीत का समावेश पदों को और अधिक सरल एवं मधुर बना देता होगा। साहित्य एवं संगीत का यह उत्कृष्टतम् संगम भारतीय संगीत साहित्य की अमूल्य धरोहर है।

संदर्भ :

1. शुक्ल पं. रामचन्द्र, भ्रमर गीत सार, पृ. 2
2. गुप्त डॉ. दीनदयाल, अष्टछाप, पृ. 203
3. दिल्ही साहित्य का इतिहास, संस्करण 1990, पृ. 155
4. चौरासी वैष्णव की वार्ता, पृ. 404
5. अष्टछाप (प्राचीन वार्ता रहस्य) द्वितीय भाग पृ. 16-17
6. सूरसारावली पद 1102 पृ. 35
7. गुप्त डॉ. दीनदयाल, अष्टछाप और श्रीवल्लभ संपद्राय पृ. 279
8. गुप्त डॉ. दिनेशचन्द्र, कृष्ण भक्ति काव्य में राग और रस, पृ. 50

Scanned with OKEN Scanner

संगीत का चित्रात्मक स्वरूप

डॉ. किरण सिंह

भारतीय चित्रकलाओं का जितना अधिक संबंध संगीत के साथ देखा गया उतना किसी अन्य कलाओं के साथ दिखाई नहीं पड़ता। आदिम संगीत की दशा से जब मानव-समाज आगे बढ़ा, तब स्वरों की विवेचना का श्री गणेश हुआ आगे चलकर संगीत पूर्ण विकास की ओर बढ़ा तभी से चित्रकारों ने उसका भाव स्वरूप चित्रों में अंकित किया। अजंता की चित्रकारी इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जिसमें कला के अन्य तत्वों के अलावा संगीतात्मक तत्वों का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। आज से लगभग 400 वर्ष पूर्व संगीत को स्मरणीय बनाने के अन्य साधनों का अभाव था। उस समय चित्रकला के द्वारा ही राग रागिनियों के भाव में ध्यान के आधार पर इसे मूर्त रूप दिया गया और इस प्रकार चित्रकला के माध्यम से ही राग रागिनियों की आत्मा प्रतिष्ठित की गई।

संगीत शास्त्र के अनुसार रागोत्पति का मूल स्त्रोत शिव हैं उनके पांच मुखों से पांच तथा एक गिरिजा मुख अर्थात् छः रागों की उत्पति हुई प्रत्येक राग की पांच-पांच या छः-छः रागिनियों का वर्णन शास्त्रों में किया गया है। इस प्रकार छः राग तथा 30 या 36 रागिनियों का वर्गीकरण शास्त्रोक्त हैं। वास्तव में इन छः रागों को षट् ऋतुओं में विभक्त किया गया प्रत्येक राग की निश्चित ऋतु है जैसे हेमन्त को श्री राग, शिशिर को मालकौश, बसंत को हिण्डोल, ग्रीष्म को दीपक, मेघ को वर्षा, तथा शरद को भैरव राग के साथ विभक्त किया गया है।

बीकानेर के राजकीय संग्रहालय में जयपुर शैली के 36 राग रागिनियों का एक संपूर्ण सेट संग्रहालय की चित्रशाला में क्रमानुसार सजा हुआ है। इन सभी चित्रों के उपरी भाग में कविता के द्वारा सांगीतिक विशेषताओं का चित्रण है।

प्रथम राग भैरव में शिव का स्वरूप दिया गया है। श्वेत अधोवस्त्र पहने शिव सुन्दर तरूणियों ललाट पर चंद्र, जटाओं में गंगा, गले में मुण्डमाला से युक्त और मृगछाला बिछाए ध्यानमग्न दिखाए गए हैं। इनकी रागनियों दोहे में इस प्रकार अंकित है -

भैरवी विरारी कही, मधु माधवी विचारे।
सैंधवी, बंगाली सुनो, ऐ भैरव की नारि।।

भैरव राग की प्रथम रागिनी भैरवी को विशाल नेत्रों वाली सुंदर और गौरवर्ण युवती को श्वेत ओढ़ना, लाल, कंचुकी तथा सुनहरा धाधरा धारण किये हुए दिखाया है। जलाशय के बीच सुनहरे शिव मंदिर में श्वेत शिवलिंग स्थापित है और सामने कमल पुष्प पर बैठी नायिका गले में चम्पा माला पहने अपने प्रिय शिव को ताल बजाकर प्रसन्न करने में रत है। रागिनी का नियत समय शरद ऋतु का प्रभात है।

भैरव की वैरागी रागिनी श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित हाथों में स्वर्ण कंगन धारण किये नागिन के सदृश छिटके हुए बाल संवारते हुए पलंग की ओर अग्रसर हो रही है। इस रागिनी के आलाप का समय एक पहर दिन के बाद का है। मधु माधवी रागिनी रति के समान रूपवती है, सुन्दर आंख मधुर वचन, रसीले होठ तथा स्वर्ण जैसी शरीर वाली है। पीले वस्त्र पहिने ये पति की प्रिया नायिका बिछे हुए सुसज्जित स्वर्ण पलंग के पास खड़ी हुई हंस-हंसकर

विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति.मां., भा.वि. भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

अपने श्वेत वस्त्रधारी पति से चुम्बन करवाने में संलग्न है। रागिनी का समय शरद ऋतु की मध्यम बेला है।

रागिनी सैंधवी विशाल अंग वाली खड़ी हुई कामातुर नायिका प्रतिदिन अपने पति पर कामरूपी वाणों का प्रहार करने वाली है। लाल वस्त्र धारण किये हुए क्रोधित मन से पति के आने के आने वाले रास्ते पर खड़ी है। इसे जलाशय के निकट बाएं में त्रिशूल लिये हुए तथा दाहिने हाथ से श्यामवर्ण शिवलिंग पर पुष्पमाला चढ़ाते हुए दिखाया गया है।

बंगाली रागिनी ललाट पर मनमोहक कस्तूरी का लेप किये बालों का जुड़ा बांधे अंग पर विभूति रमाये हुए हैं। यह तरूणी पानी बहाते हुए आकर्षक चश्मों तथा पुष्पक्यरियों के बीच लाल रंग के सुनहरे आसन पर हाथ में त्रिशूल लिये विराजमान है केश से भींगी हुई साड़ी अत्यंत शोभनीय लगती है। संपूर्ण जाति की यह रागिनी का गायन समय शरद ऋतु में दिन का चौथा प्रहर है। दूसरा राग मालकौंश का स्वरूप एक अत्यंत आकर्षक पुरूष के रूप में सुनहरे मंडप के नीचे, गजमुक्ता की माला धारण किए हुए हाथ में पुष्प घड़ी लिए सिंहासन पर विराजमान है। सिंहासन के पीछे राजसी चिहन् लिए सुन्दरियां खड़ी हैं तथा सामने पांच नायिकायें नृत्य मग्न है। शिवजी के कंठ से निकला यह राग शिशिर ऋतु में रात के चौथे प्रहर में गाया जाता है। इनकी रागनियां तोड़ी, गौरी, गुणकली, खंभावती और कुकुम है। प्रत्येक का चित्र-वर्णन रागिनी के कवित्र के अनुसार किया गया है। तोड़ी नायिका अमृत-तुल्य वचन बोलने में प्रवीण, तीखे कटाक्ष करने वाली सफेद वस्त्र धारण किये अत्यंत सुकुमार है। उंची चौकी पर खड़ी भगवान की मूर्ति के समक्ष यह रमणी, वीणा सुना रही है। निकट ही एक अलंकृत सेज पड़ी है।

गौरी रागिनी कोयल के समान मृदुभाषी तथा सुक्ष्म नाद वाली है। नायिका का श्यामवर्ण और सुनहरी बूंटीदार सफेद वस्त्र पहने लाल कंचुकी के साथ बहुत शोभायमान लगती है। यह तरूणी जंगल में जलाशय के पास खड़ी हुई नख-शिख श्रृंगार किये हुए प्रतीक्षा करती हुई दिखाई गई है। शरद ऋतु का चौथा प्रहर इसका गायन समय है।

गुणकली एक विरहणी नायिका है जो मैले वस्त्र पहने अपने प्राण प्रिय की अनुपस्थिति में कदम के नीचे भवन की अटारी के नीचे आसन बिछाए बैठी है। साथ एक सखी उन्हें धैर्य बंधाती हुई दिखाई गई है। विरह वंग से अश्रुधार के कारण उनकी कचुकी भींग रही है। इसे प्रातःकाल के समय गाया जाता है।

खंभावती कोयल के समान मधुर वचन बोलनेवाली मृग नयनी नायिका चतुर सखियों के बीच राग-रंग में लीन है। इनके मस्तक पर शीशफूल, ललाट पर सुन्दर टीका, मोतियों की माला तथा सिर पर साड़ी लिए सिंहासन पर विराजमान है। एक चवरधारी दासी खड़ी है और सामने दो गायिकाएं संगीत सुना रही है। इसका गायन समय शिशिर ऋतु की रात्रि का तीसरा प्रहर है।

कुकुम रागिनी को एक रतिप्रिता नायिका के रूप में दिखाया गया है। जो एक सुन्दर मंडप में सुसज्जित पलंग पर मसनद लगाये बैठी है और आकाश में अर्धचन्द्र के चारों ओर तारों का झुरमुट है। यह रागिनी संपूर्ण श्रृंगार किये नींद की कमी से लाल आंखें किये हैं पलंग के पास खड़ी दासी उसे दर्पण दिखा रही है। ये रागिनी शिशिर ऋतु की रात्रि के चौथे प्रहर में गायी जाती है।

तृतीय राग हिन्दोल का स्वरूप कन्हैया के रूप में पीले वस्त्र धारण किये हुए दिखाया गया है जो एक हरे भरे बगीचे के बीच सुंदर हिन्दीन में विराजमान है जिसे नायिकाएं झुला झुला रही है। इनके सिर पर मुकुट बांए हाथ में बंशी तथा दाहिने हाथ में मोतियों की माला है। सामने तश्तरियों में अनेक रंग के गुलाल, अतर दान, पानदान आदि संपूर्ण भोग विलास की वस्तुएं सजी रखी है। स्वर्ण हिन्दीन के पीछे पांच तरूणियां खड़ी है और पास ही गायिकाएं मधुर संगीत से उन्हें रिझा रही है। इस राग को बसंत ऋतु के प्रथम प्रहर में गाया जाता है। हिन्दोल राग की पांच नायिकाएं दोहे में इस प्रकार अंकित है।

रामकली देशाख है, ललित बिलावल नारि
पटमंजरी हिन्दोल तिय, बरनि सुकवि सुधारि।।

रागिनी रामकली केशरिया पोशाक धारण किये हुए अपने प्रीतम के सामने सेज पर बैठी है। नायक

Scanned with OKEN Scanner

सुकोमल वस्त्र पहने हुए तांबूल की मनुहार कर रहा है। नायिका के ललाट पर कस्तूरी लेपन, संवारे हुए बाल तथा जेवर से सजा हुआ प्रत्येक अंग देदीप्यमान हो रहा है। बसंत ऋतु की अर्धरात्री इसके गायन का समय है।

देसाख एक पुष्ट शरीर वाली सुन्दरी निरंतर पति संग चाहने वाली है। नायक नायिका भवन के छत पर एक दूसरे के सामने आसनों पर विराजमान है। नायक श्वेत वस्त्र पहने अपनी प्रेमिका से मद्यपान के लिए आग्रह करता हुआ चित्रित किया गया है। रागिनी का गायन समय बसंत ऋतु है।

ललित संसार का मूल्य करने वाली अत्यंत गौर वर्णी नायिका भरपूर यौवन से मस्त कसूमल पोशाक के साथ नखशिख श्रृंगार धारण किये हुए सेज पर लेटी हुई है। कंठ इतना कोमल है कि तांबूल सेवन से पीक की लकीर दिखाई देती है। नायक प्रातःकाल हुआ देखकर नायिका को शयन-मुद्रा में छोड़ता हुआ पीछे की ओर देखता हुआ बाहर निकल रहा है। पास खड़ी दासी नायिका को पंखा झल रही है। इस रागिनी का गायन समय बसंत ऋतु का प्रातःकाल है।

बिलावल रागिनी खुली बरादरी के द्वार पर मसनद लगाये सोलह श्रृंगार किए हुए पति की प्रतीक्षा में बैठी हुई है। नायिका सुनहरी बूटीदार लाल चीर धारण किए हुए अपने श्रृंगार में रत है। पास ही बैठी हुई एक दासी मद्य प्याला लिए हुए हैं और दूसरी दासी बाहर बैठी हुई दर्पण दिखा रही है। दो गायिकाएं गाना सुना रही है। इसका गायन समय दिन का प्रथम प्रहर है।

पटमजरी विरह व्यथित नायिका है। जो महल में बिछी हुई सेज के आगे दोनों हाथों में पुष्प मालाएं लिए हुए खड़ी है। ये विरह अग्नि से सुख गई है। इन्हें न भोजन अच्छा लगता है न ही सेज पर नींद आती है इसका गायन समय विरह दुःख के कारण अर्धरात्री दिया गया है।

चतुर्थ राग दीपक सुसज्जित मस्त गजराज पर सवार है। कसूमल पोशाक, गले में गज मुक्ता माला तथा रत्नजड़ित मुकुट धारण किये हुए दोनों हाथों में मशालें लिए हैं। दीपक के शरीर का रंग अग्नि जैसा है। इसे ग्रीष्म ऋतु में गाया जाता है। इनकी पांच नायिकाएं दोहे में इस प्रकार है।

देसी और कामोद, नट, केदारों, सुनि लेहु।
वेहरि, कानरों कीजिए, दीपक सों अति नेहु।।

देसी नायिका का शरीर हरे वस्त्रों से सुसज्जित है। गौर वर्ण नायिका भवन के छत पर एक सुसज्जित सेज के पास एक हाथ में मद्य-प्याला तथा दूसरे हाथ में पुष्पमाला लिए खड़ी है। इसका गायन समय ग्रीष्म ऋतु का दूसरा प्रहर है।

कामोद रागिनी का वर्ण पीला है। सफेद कंचुकी के साथ सुनहरी बूटीदार लाल रंग की साड़ी पहने जंगल में अकेली दिखाई गई है, जो बड़ी उत्सुकता से इधर-उधर अपने पति की राह देखती है कोयल के बोल इसे जहर तुल्य लग रहा है।

पति के मन को हरने वाली नट नायिका वीर रस की द्योतक है। नीला घोड़ा पास में खड़ा है और उस पर हाथ रखकर चढ़ने की तैयारी में है। नायिका के गले में मोतियों की माला, सिर पर मुकुट, लाल सुनहरी बूटीदार पोशाक तथा कमरबंद धारा किए हुए हैं। अपनी सखी द्वारा मद्यपान की मनुहार स्वीकार कर रही है, पास ही खड़ी तीन सखियां राजसी चिह्न् लिये उपस्थित हैं।

केदारा रागिनी एक तपस्वी के वेश में बैठी हुई हैं। इसके सिर पर जटा मुकुट, ललाट पर चंद्रमा, सर्प का जनेउ आदि जोगन के वेश के द्योतक हैं। अंग पर भभूति रमाये सुनहरा धांधरा और कंचुकी शोभायमान लगती है।

कान्हरा रागिनी वीर रस की द्योतक हैं। रागिनी का वर्ण श्याम है। सिर पर स्वर्ण मुकुट, श्वेत पोशाक, दाहिने हाथ में तलवार और बाएं हाथ में टूटा गजदंत है। सामने दो सखियां हाथ जोड़े खड़ी है। एक सखी चेवर और पानदान लिये पीछे खड़ी है। यह रागिनी ग्रीष्म ऋतु के पिछले प्रहर में गायी जाती है।

पंचम राग श्री का स्वरूप कामदेव के सदृश है। जो अपनी प्रिया के साथ एक ही सिंहासन पर विराजमान है। सफेद पोशाक, लाल पगड़ी, और कमर बंद के साथ श्री राग अत्यंत शोभाय मान लगता है। सिंहासन के पीछे चार सेविकाएं खड़ी है

Scanned with OKEN Scanner

और सामने तीन गायिकाएं आलाप कर रही है। इसके स्वर संपूर्ण जाति के हैं तथा गायन समय शरद ऋतु का चौथा प्रहर है।

इनकी नायिकाएं दोहा में इस प्रकार वर्णित है–

मालसरी मारू जा मनी, धनासरी जु बखान
अरू बसंत, आशावरी, सिरी राग संग जान

अतः इसके रागिनी मालश्री, मास, धनाश्री बसंत और आसावरी है।

षष्ठ राग मेध श्याम वर्ण का है, सफेद, पोशाक, कंधे पर तीक्ष्ण धारवाली तलवार, पीछे तीन सखा और सामने पांच सुंदरियां खड़ी हुई अपने मुकुट धारी प्रियतम को मधुरवाणी से रिझा रही है। बरादरी के पीछे उमड़ती घटा और चमकती हुई बिजलियां अपनी छटा दिखा रही है। सामने फव्वारे और चलते जल का दृश्य अत्यंत रोचक है। राग के मूल स्वर ध नि सा रे ग म हैं और वर्षा ऋतु की रात्री के चौथे प्रहर में गाया जाना है। इस राग की पांच रागनियां की दोहे में इस प्रकार बनाया गया है -

टंक मलारजु-गूजरी, भूपाली सु निमित्र।
देसकार से पंच तिया, मेध राग कौचित्र।।

इस प्रकार रागमाला चित्रों के द्वारा चित्रकला की एक शैलीगत परंपरा का पता चलता है और रागों का समय उसका संबंध ऋतुओं तथा रस से किस प्रकार है इसका पता चलता है। प्रत्येक राग की स्वभाव गत विशेषताओं का भी रागचित्रों से ही पता चलता है।

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय संगीत में संस्कारों का महत्त्व

डा. प्रवीण उद्धव

भारतीय संस्कृति में ललित कलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान विद्यमान है। जिसमें संगीत कला का विशेष महत्त्व रहा है। ब्रह्मांड में विद्यमान पेड़-पौधे, समुद्र, नदियों, झरने, पवन, आकाश, तारे, सूर्य, चन्द्रमा आदि अपने संस्कारों के अनुरूप अपने-अपने कार्य को सम्पादित करते प्रतीत होते है उन्ही के माध्यम से स्वर, ताल व लय उत्पन्न होकर शास्त्रीय संगीत प्राचीन समय से अनवरत गति से अपने संस्कारों को दिव्य पुरूषों को प्रदान करता हुआ चला आ रहा है। **"दर्शनात् ऋषिः"** इन्हीं तत्वों के आधार पर हमारे ऋषि मुनियों ने अपनी साधना के माध्यम से इन तत्वों का साक्षात्कार करके इनके सिद्धान्तों को स्थापित किया।

प्राचीन संस्कृति की शिक्षा गुरू शिष्य परम्परा के अन्तर्गत वाचिक रूप से प्रदान की जाती थी। इसी वाचिक परम्परा में गुरू अपने शिष्यों को समझ कर एवं उन्हें अपने सानिध्य में बैठाकर हुबहु तैयार करा देते थे।

भारतीय संगीत वेदों पर आधारित है और इनकी ऋचाओं का गान आदिकाल से ही होता चला आ रहा है। आदि देव भगवान शंकर का नृत्य, मां सरस्वती का वीणा वादन, भगवान कृष्ण का बाँसुरी वादन, तथा नारद का एकतारा इस बात को प्रमाणित करता है कि संगीत के संस्कार उन्हीं पुरातन परम्परा से प्राप्त हुआ है। सामवेद भारतीय संगीत की परम्परा का प्राचीन एवं प्रथम महान ग्रंथ है जिसमें भारतीय संगीत कला का अभूतपूर्व विवरण है, क्योंकि इस वेद की प्रत्येक ऋचाओं को स्वर प्रदान कर आज भी गाया जाता है। सामगान में द्रुत, लघु, गुरू आदि मात्राओं का अत्यन्त ही महत्त्व है। सामगान उत्तर युग में भी लय वाद्यों एवं लय साम्यो के प्रत्येक संगीतानुष्ठान में पहले हुए प्रयोग और उनके महत्त्व को अति प्राचीन काल से प्रतिष्ठित करते है। सामगान के माध्यम से ऋचाओं का पाठ करने के लिए दो ग्रंथ थे। जिनमें प्रथम ग्रंथ का नाम छंद और दूसरे का नाम उत्तर था। सामवेद में लय गति हेतु छंदों का महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है। सामवेद को संगीत का मूल ग्रंथ मानकर विभिन्न ब्राह्मण ग्रंथ, पुराणों एवं उपनिषदों में साथ ही संगीतशास्त्रों में सामवेद की प्रशंसा की गई है। यजुर्वेदकालीन यज्ञों में सामगान अनिवार्य माना जाता था एवं गान के विस्तार हेतु प्रमुख गायक उद्गाता के साथ उपगाताओ की योजना होती थी। प्रातःकालीन सामगान शिक्षा सामवेदियों तक ही सीमित न रहकर अन्य वैदिकों के लिए भी आवश्यक मानी जाती थी। गायन वादन तथा नृत्य के साथ मात्रा गिनकर हाथ से ताली देने के संस्कारों की प्रथा विद्यमान थी। यजुर्वेद कालीन महिलाऐं भी शास्त्र में प्रवीण थी। तथा गायन व नृत्य में लयकारियों का प्रदर्शन करती थी।

अथर्ववेद कालीन लौकिक गीत प्रचार में आये, और परम्परागत रूप से संगीत संस्कार के रूप में अपने गुरू ने अपने शिष्य को पुनः संस्कार प्रदान किये। गुरूओं के द्वारा अपने शिष्य को पीढी दर पीढी शिक्षा प्रदान कर इस संगीत विद्या के संस्कारों को आगे बढाया जाता रहा है।

मानव जीवन और संगीत के संस्कारों में अटूट रिश्ता है। संगीत के संस्कारों का मानव मन पर तत्काल प्रभाव पड़ता है। जीवन प्रदान करने वाली

सहायक प्राध्यापक, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

माता अपने प्रिय बच्चों को थपकिया दे कर लोरी सुनाती हुई सुलाती है तब वह संगीत के लय तत्व का उपयोग करती है तो गीत या लोरी गाते समय नाद ब्रह्म का प्रयोग करने से बालक के अन्तर्जगत के संगीत के संस्कार माता द्वारा प्रदान किये जाते है। आयु की वृद्धि के साथ ही मां बालक में बोल चाल ही माता के संस्कार प्रदान करना प्रारंभ कर देती है इसके साथ ही वह विलम्बित गति से चलना प्रारंभ करती है और आगे चलकर वह चाल की गति मध्य लयानुसार बनती है और तदुपरांत बालक द्रुत गति में दौड़ना प्रारंभ कर देता है। इस प्रकार ताल और लय के साथ संगीत की तीनों लयों के संस्कार उसे बाल्यावस्था में ही सहज प्राप्त हो जाते है। जगत् में कोई भी पदार्थ प्रारंभ से संस्कार युक्त नहीं होता उसे संस्कार युक्त करने के लिए परिमार्जन की आवश्यकता होती है जैसे गेहूँ वाली के रूप में हमारे सामने आता है उसे साफ कर गेहूँ का आकार प्रदान किया जाता है। उसके पश्चात उसमे विद्यमान कूड़ा करकट को निकाला जाता है तत्पश्चात् उसे पिसवाकर रोटी निर्माण करने योग्य बनाया जाता है। यही प्रक्रिया शास्त्रीय संगीत के संस्कारों पर भी घटित होती है। मां के द्वारा प्रदत्त संस्कारों को गुरू-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत उसका मार्जन कर उसे परिष्कृत किया जाता है और गुरू उसे हुबहु रूप में लाता है।

संगीत विभिन्न रसों से युक्त होकर मानव मन पर अपना प्रभाव डालता है तब व्यक्ति इन झुकाव उन रसों से युक्त होकर अपनी प्रस्तुति देने में समर्थ होता है। यही कारण है कि खुशी के अवसर पर आनन्द का वातावरण उत्पन्न करने में, और दुःख के समय पर अपने पर नियंत्रण रखने के लिए संगीत के संस्कारों का उपयोग किया जाता है।

मानव जीवन में जो कार्य समूह के रूप में संपादित किया जाता है उसमें एक अनुशासन की आवश्यकता होती है। ये सब बाते संगीत कें संस्कारों द्वारा हमें प्राप्त होती है। सामूहिक गीत के समय मन एक दूसरे के निकट आ जाते है। मंदिर में घड़ी-घंटाल बजने पर मन उल्लासित होता है और हम मंदिर की ओर दौड़ पड़ते है और एकाग्रचित्त होकर प्रभु स्मरण की क्रिया में संलग्न हो जाते है और उसमें हम अपना सुर मिलाने लगते है।

जब हम विद्यालयीन परिसर में सामूहिक प्रार्थनादि का शुभारंभ करते है इससे वातावरण की निर्मिति में सहायता मिलती है। सेना की कवायद प्रारंभ होती है उस समय आगे कूच करने के लिए संगीत का ही उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार अपने व्यक्तिगत जीवन या सामूहिक जीवन शैली के निर्माण में संगीत के संस्कारों का अटूट सम्बंध रहता है जो गुरू-शिष्य परम्परा से प्राप्त होकर निरंतर अबोध गति से आगे की ओर बढ़ता चला जा रहा है। संगीत से मिलने वाले संस्कारों का स्वरूप सात्विक व अत्यन्त ही निर्मल होता है। इस लिए इसके आनन्द को उच्च कोटि का माना जाता है। मानव जीवन में संगीत के संस्कारों का निकट का सम्बंध होता है। नाद, लय तथा ताल संगीत के मूल घटक होते है जो हमारे जीवन को संस्कार युक्त बनाते है।

इस सारी बातों से यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय संगीत के संस्कार मानव जीवन की शैली को बदलने में बहुत सहायक होते है। शास्त्रीय संगीत श्रव्य होने से यह कला सुनकर ही इसके संस्कारों को प्राप्त किया जा सकता है और इसके लिए गुरू की परम आवश्यकता होती है वही हमें संगीत के संस्कार प्रदान करने में सहायता प्रदान कर सकता है।

Scanned with OKEN Scanner

ठुमरी में लोकतत्त्व

अंजू कुमारी

'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोक दर्शन' धातु में 'ध्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ देखना है। जिसका लट् लकार के अन्य पुरूष के एक वचन का रूप 'लोकते' है अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला। इस प्रकार वह समस्त जन-समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहा जा सकता है। 'लोक' शब्द से ही हिन्दी के 'लोग' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। जिसका तात्पर्य है सर्वसाधारण जनता। अतः 'लोक' शब्द का अभिप्राय उस समस्त जनसमूह से है जो किसी देश में निवास करते हैं।

डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार - ''लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य और वर्त्तमान सभी कुछ संचित रहता है।

डॉ श्याम परमार के अनुसार - ''आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में लोक का प्रयोग गीत, कथा, वार्ता, संगीत आदि से युक्त होकर साधारण जन समाज जिसमें पूर्व संचित परम्पराएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं अपितु अनेक विषयों के अनपढ़ किन्तु ठोस रत्न छिपे हुए हैं, के अर्थ में होता है।

डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - ''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है, बल्कि गाँवों और नगरों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोंथियाँ नहीं है।

लोक तत्त्व परम्परा में चली आ रही उन भावों-विचारों और अनुभूतियों के प्रतीक होते हैं, जो सामान्य जन मानस में युगों से अपनी गहरी जड़ें जमाये चले आ रहे हैं। परम्परायें लोक जीवन में हीं पनपती है, इसलिए हर कला का आधार लोक जीवन ही होता है।

ठुमरी मूलतः लोकसंगीत से ही उत्पन्न हुआ है, इस कारण से यह गेय विद्या लोक से अधिक जुड़ा हुआ है। ठुमरी के अवलोकन-अनुशीलन करने पर निम्न प्रकार के लोकतत्त्व के दिग्दर्शन होते हैं-

1. लोकभाषा का सम्बन्ध सीधा जनमानस और विशेषकर ग्राम संस्कृति से होता है। इस कारण से इसकी प्रकृति सरल, स्वाभाविक और स्वच्छंद होती है। यह साधारण जन समुदाय द्वारा बोले जाने के कारण एक अलग प्रकार का इसमें माधुर्य होता है। यह साहित्यिक भाषा के नियमों के कठोर बंधनों से उन्मुक्त और स्वच्छंद प्रकृति का होता है। स्वच्छंद गति से बहनेवाली प्राकृतिक जलधारा के प्रवाह के समान लोक-भाषा में अन्य लोकभाषाओं के शब्द का व्यवहार प्रायः दिखाई पड़ता है।

ठुमरी के बंदिशों में हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता तथा माधुर्य की लक्ष्यपूर्ति के लिए अन्य बोलियों के शब्दों और मुहावरों का यथानुकूल प्रयोग होता है। फलतः ठुमरी के बंदिशों में प्रयोग की जानेवाली भाषा का स्वरूप शास्त्रीय भाषा के कठोर बंधनों से विनिमुक्त, सरल और साधारणतः मिश्रित रहता है। कालान्तर में जैसे-जैसे विभिन्न क्षेत्रों में इस गान-विधा का प्रचार-प्रसार होता गया वैसे-वैसे उस क्षेत्र के बोलियों का बंदिशों में समावेश स्वतः होता गया। इस गायकी में मुख्यतः ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, वज्जिका आदि का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

उदाहरणस्वरूप ब्रजभाषा में -

1. *सखी री बूँद अचानक लागी*
   सवेवत ही मदनमद-माती
   घन गरजै तब जागी।।
   छादुर मोर पपैया बोले
   कोमल शब्द सुहानी
   कुंभनदाय लाल गिरधर सौं
   जाय मिली बड़ भागी।।6
2. *बरखा ऋतु बीत गई*
   श्याम सुन्दर अब लौं नहीं आये।
   आवत-आवत कह गये बीते बारह मास
   न जानूं कौन बैरनियाँ बिलमाई लई।।

उपर्युक्त ब्रजभाषी ठुमरी में बैरनियाँ, बिलमाय शब्द भोजपुरी का है।

2. लोकस्वर :

ठुमरी में लोक-स्वर प्रधान गायकी है। लोक में प्रचलित धुनें ही ठुमरी में प्रयुक्त है। लोकधुनें अपने आप बनती है। यह स्वतः अन्तः मन से संचारणकर व्यक्त होती है। आमजनों को संगीत का विधिवत ज्ञान नहीं होता। उनके मन में जो स्वराबलि आये वही स्वर लगाकर व्यक्त करते हैं। इन स्वर-समूहों से कोई-न-कोई धुन बनती जाती है। इन धुनों को नियमबद्ध कर 'राग' बनाया जाता है।

ठुमरी लोकधुनवाले रागों में ही मुख्यतः गाये जाते हैं, जैसे - गारा, झिंझोटी, खमाज, देस, पिलू, भैरवी, बरवा, पहाड़ी, मांड इत्यादि। ये शुद्ध राग में न गाकर रागों का मिश्र कर प्रस्तुत किया जाता है। ये राग मिश्रण स्वतः सहज ढंग से होता है। अतः ठुमरी में स्वर सहज रूप से लोकगीत का अनुगमन करते हैं।

3. लोकलय :

ठुमरी में लय का संचरण सहज रूप से होता है। यह सहजता इसे लोकसंगीत के निकट ले जाता है। जिस तरह लोकगीतों में भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और हृदय से निकली हुई लय के साथ होती है, इसी प्रकार की लय ठुमरी में भी दृष्टिगत है।

ठुमरी में वही ताल प्रयुक्त है जो लोकसंगीत का प्रिय ताल है। यथा-दीपचंदी, कहरवा, दादरा, जत इत्यादि। अतः स्वाभाविक, स्वच्छंद, सरल लय और ताल इस गायकी को लोक से प्राप्त हुआ है।

4. लोकभाव :

समाजिक स्थिति के क्षण-क्षण के भाव ठुमरी में बंधे होते हैं। इनमें सरल अनुभूति और भावों की गहराई है। इनमें मानव के सुख-दुख का, मिलन-बिरह का, स्नेह-करूणा का भाव दिखाई पड़ता है। लोक-संस्कृति आमजन देवी-देवता में आस्था रखते हैं। यह भाव ठुमरी में भी दिखाई पड़ता है। यथा-

1. *कब दर्शन दैहौं महादेव, देव हमारे*
   तुम्हरे दरस को तरसत नैना।
   उमापति तुम ईष्ट हमारे

संदर्भ :

1. उपाध्याय कृष्णदेव, लोक संस्कृति की रूपरेखा
2. अग्रवाल डॉ वासुदेव शरण, सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक
3. परमार डॉ. श्याम, भारतीय लोक साहित्य
4. निरगुण वसंत, लोक संस्कृति

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय परिप्रेक्ष्य में संगीत-धर्म के सन्दर्भ में

डा. अनिता रानी

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'धारण करना। दूसरे शब्दों में जिसको धारण किया जाये वही धर्म है। संस्कृत के ग्रंथों में धर्म प्रयोग कई अर्थों में होता है। वेदों को परम सत्य माना गया है। यह विश्व-साहित्य की सबसे प्राचीन रचना है। इनमें धर्म के विषय में इस प्रकार कहा गया है- **''वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है।''** ऋग्वेद की ऋचाओं में यह शब्द या तो विशेषण के रूप में या संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में 'धर्म' शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेदों में 'धर्म' का सम्बन्ध उप क्रिया-संस्कारों से है, जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित है। उस समय में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म प्रधान माना जाता था। **आर के मुखर्जी** के शब्दों में- **''प्राचीनतः वैदिक काल के जन्म से ही, हम भारतीय साहित्य को पूर्णरूपेण धर्म से प्रभावित देखते है।''** इनमें मनुष्य के धार्मिक विचारों का सर्वप्रथम परिचय प्रस्तुत हुआ है तथा इनमें लौकिक तथा आलौकिक सभी विषयों से सम्बन्धित साहित्य भरा पड़ा है।

छान्दोग्योपनिषद् में 'धर्म' का एक महत्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखाएँ है–

1. यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थ धर्म।
2. तपस्या अर्थात् तापस धर्म।
3. ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह में अन्त तक रहना।

इस प्रकार 'धर्म शब्द का अर्थ समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। भारतीय शिक्षा में भी धर्म को प्रधानता दी जाती है। इस पर **डॉ राधाकुमुद मुखर्जी** ने कहा है- **'' आदिकाल से ही भारत में शिक्षा स्वयं के लिये नही, अपितु धर्म के लिए प्राप्त की जाती थी''** प्राचीन समय में धार्मिक विषयों से सम्बन्धित रामायण तथा महाभारत जैसे धार्मिक ग्रंथ लिये गये। उस समय धर्म-ग्रंन्थों का तब तक पाठ किया जाता था जब तक कि वे कण्ठस्थ नही हो जाते थे।

वस्तुत : 'धर्म' का अर्थ हिन्दू, इस्लाम, जोरेस्ट्रियन, बौद्ध, ईसाई आदि ऐतिहासिक धर्मो से समझा जाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः मनुष्य के जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। 'धर्म' मानव के इतिहास में अत्यन्त ही शक्तिशाली तत्व रहा है। भारतीय साहित्य के आदि स्रोत गीता , उपनिषद् व पुराण जन-साधारण से दूर नही है। आदिमानव भी किसी-न-किसी रूप में धार्मिकता का परिचय देता था। अचानक आग लग जाने से भूकम्प आ जाने से और इस तरह की अन्य घटनाओं से उसे मालूम पड़ता था तथा वह सबल शक्तियों के प्रति आराधना का भाव प्रकाशित करता था। इस प्रकार धर्म विभिन्न क्रियाओं को सुव्यवस्थित करता है। साधारण रूप से ईश्वर में विश्वास को ही धर्म कहा जाता है। इन सब कारणों से पता चलता है कि 'धर्म' की भारतीयों पर अमिट छाप है।

धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए **डॉ. राधाकृष्णन** ने अपनी पुस्तक " Estteran

असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत विभाग, सितार, बी.डी.जैन गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, आगरा

Scanned with OKEN Scanner

Religions and Western Though" में कहा है कि- **"धर्म से जीवन के विभिन्न कार्यो में संगति आती है और इससे उनको दिशा प्राप्त होती है।.....यह जीवन का परिपूर्ण नियम है और ऐसे सम्पूर्ण मानव का सामंजस्य है जो अपनी जीवन चर्या को किसी सही और उचित नियम के अनुसार चलाता है।"** इस प्रकार देखा जाये तो धर्म का इतिहास मानवीय विकास का इतिहास है। **कोम्ते** के अनुसार-**" सम्पर्ण अस्तित्व धर्म के अन्तर्गत है तथा धर्म का इतिहास मानव विकास के सम्पूर्ण इतिहास को चित्रित करता है।"** धर्म में आस्था रखना मनुष्य की निजी विशेषता है। धर्म की आवश्यकता मनुष्य के स्वरूप में ही अन्तर्भूत है। जब मनुष्य असहाय या दुःखी होता है तो वह किसी-न- किसी शक्ति की अपेक्षा करता है जिससे उसकी कठिनाईयाँ दूर हो सकें। इस उद्धेश्य की पूर्ति के लिये वह 'धर्म' का हृदयगंम करता है। **प्रो टायलर** के अनुसार-**"धर्म आध्यात्मिक सत्ताओं में विश्वास है।** " धर्म के विषय में **मैक्समूलर** ने कहा है- **"धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृत्ति है जो मनुष्य को अनन्त सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम सिद्ध होता है।"** **हैवेल** के शब्दों में– **"भारत में धर्म विश्वास नही बल्कि आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं और जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार मानव व्यवहार का एक क्रियात्मक सिद्धान्त है।"**

भारत हमेशा से एक धर्म-प्रधान तथा अध्यात्म-प्रधान देश रहा है। यही कारण है कि समस्त कलाएँ, दर्शन, चिन्तन, आदि इसी ओर उन्मुख रहे है, परिणामस्वरूप धर्म से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है संगीत एक कला है और कला तथा धर्म का अटूट सम्बन्ध सर्वथा मान्य है। मानव जीवन के तीन आदर्श सत्यं, शिवं और सुन्दरं धर्म के भी तीन स्तम्भ है। कला इन्हीं में से सुन्दर को मूर्त रूप प्रदान करती है। मानव में निहित चित्त शाक्ति ही रंगों द्वारा चित्रों में मूर्तियों द्वारा आकार ग्रहण करती है, वही शब्द ध्वनि के माध्यम से संगीत का रूप लेती हे।

" विश्रान्तिर्यस्य संभोग स कला न कला पराः। लीयन्ते परमानन्दे य आत्दा सा पराकला।"

अर्थात् वह कला जिसकी समाप्ति भोग में हो जाती है कला नही है जो हमें इस धरातल से उठाकर परमान्द अर्थात् ईश्वर या आत्मिक आनन्द में लीन करने की क्षमता रखती है वही सच्ची कला है। संगीत ललित कलाओं में सर्वोपरि सक्षम कला है जो हमें जीवन के कोलाहल से दूर ऐसे लोक में ले जाती है जहाँ हम इसकी लय लहरी को अंग-अंग में भर सकते है। जिससे सारा जीवन लहरा उठे। वेद की ऋच्चायें छन्दोबद्ध है और सामगान इन्द्र को भी मुग्ध करने की क्षमता रखता है। भारतीय संगीत की मूल धारा जीवन के स्तर तक नही रूकती वरन् मन की उदात्, कोमल, विमल, स्निग्ध और गम्भीर भावभूमि को छूती है। अपने प्रभाव व्यापकता, सूक्ष्मता, महता के कारण ललित कलाओं रूपी आकाश का तारा संगीत है।

सभी कलायें मानव द्वारा सृजित व जन्मित मानी जाती है। इन कलाओं के अद्भुत होने की प्रक्रिया को जब हम देखते है तो लगता है कि बार-बार हम परमपिता के समक्ष नत मस्तक होकर उसी की आराधना में प्रवृत हो रहे है क्योंकि समस्त कलाओं का उद्भव प्रकृति के उन्नत आगाह में फैले हुये विस्तृत वितात के एक-एक पक्ष से हुआ है प्रकृति में आँखे खोलकर मनुष्य ने जो सब देखा वो उन्नत असीम था। उसकी बुद्धि उस रहस्य को समझने में असमर्थ थी अतः वह उस शक्ति के आगे नत मस्तक हो गया। और अपने जीवन का तादम्य प्रकृति से साथ स्थापित करने लगा। उस तादाम्य के सुख को विभिन्न रूपों में भोगने की लालसा ने विविध कलाओं को जन्म दिया। प्रकृति की गति के साथ थाप (ताल) तथा विविध ध्वानियों के साथ स्वरों का सामजस्य स्थापित करके उसने संगीत को अपने जीवन में अनुकरणीय बनाया।

"षड्जम वदन्मयूरों ही ऋषथ जातकों वदेत्, अजा वदति गांधरिम् कोच्यों वदति
मध्यम् पुष्पसाधारणे काले कोकिलः, पंचम वदेत्-दूदशे धैवतम् च्येत निषादम् (शारंगधर)

अर्थात् मयूर षड्ज, चातक रिषभ, बकरी गंधार, कौवा मध्यम, बसंत ऋतु में कोयल पंचम, मैंढ़क धैवत और हाथी निषाद बोलता है।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत स्वर और ताल के द्वारा निखरा हुआ एक रूप है जो हमें गति देता है इसकी पृष्ठ भूमि नाद है। नाद स्वतः उत्पन्न ईश्वरीय वाणी है व ब्रह्म का स्वरूप है। मनुष्य ने अपनी जिज्ञासा को तृप्त करने के लिये कला के माध्यम से संगीत में विविध प्राकृतिक ध्वानियों का अनुकरण करके तथा गतिमान प्रकृति से गति की चेतना लेकर (जोकि सास्वत है) जोकि निश्चित विधान में बंधी है ताल की स्थापना की।

मानव जीवन का परम लक्ष्य आत्म-आनन्द है। जीवन की सार्थकता इसी आत्मोपलब्धि में समझी जाती है। उपनिषदों में आत्मा का निर्माण पंचकोषों से माना गया है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय तथा आनन्दमय। प्रथम दो कोष तो जीव जंतुओं में समान उपलब्ध है। शेष तीन मानव जाति की सहज विभूति है। इन पाँचों में आनन्दमय कोष की महत्ता सर्वाधिक है। परमतत्व का साक्षात्कार इसी आनन्दमय कोष का कार्य है। संगीत परमतत्व नाद की आनन्द उपलब्धि का माध्यम है। स्वर की व्याख्या है कि जो ध्वनि मन को रंजित करे वही स्वर है स्वरों का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि कर्ण कुहरों में से प्रवेश कर अंतः चेतना को स्वभाविक रूप में आलौकिक आनन्द प्रदान करने लगता है और इस रस का आस्वादन करने वाला व्यक्ति जीवन के बाह्य व्यापार को भूलकर समाधिस्थ की स्थिति में डूब जाता है।

भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में स्थूल उपासना यथार्थ आनन्ददायनी कभी नही हो सकती। आनन्द की प्राप्ति के लिये स्थूल माध्यम हो सकता है किंतु अन्तिम लक्ष्य नही, इसलिये नाद का प्रयोग हमारे यहां दार्शनिकों, योगियों, और भक्तों ने परमानन्द की प्राप्ति के लिए किया हैं भारत में भक्ति परम्पराओं में कितने ही मत-मतानन्तर रहे हो किंतु संगीत के महत्व को निरापद भाव से स्वीकारा गया है भक्ति के अनेक रूपों में भी संगीत एक रूप होकर ही आराधना का माध्यम रहा है। शब्द चाहे जो भी हो भक्ति में संगीत का आधार भारतीय आध्यात्मिक निष्ठा का परिणाम है। जिस प्रकार जीवन के साथ जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है इसमें कभी पूर्ण विराम लगेगा यह कहना असंभव है, यह प्रकृति का शाश्वत नियम है इसी प्रकार संगीत के ये स्वर कब से जन्में है या कब तक नये-नये रूप में इसके द्वारा धारण किये गये तथा किये जाते रहे यह कहना भी असंभव है। भारतीय संगीत के रचयिता देवादिदेव शंकर तथा ब्रह्मा जी माने जाते है इसके पीछे कई कथानक भी है पर नाद तो अनादि है जबसे हम ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार करते है तभी से उसके रूप से संबद्ध नाद को भी स्वीकारना होगा। भारतीय मनीषियों का कहना है कि संगीत का सम्बन्ध वेद से है और वेद अनादि है।

ओउम् वेद का बीज मंत्र है। इस विषय में मनु का कथन है कि ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद से आ, उ, म, यह तीन प्रकार अक्षर 'प्रणव' ओउम् है। "प्रणव' परमात्मा का उत्तम नाम है। मनीषियों ने वेदांग शिक्षा शास्त्र द्वारा भली भाँति सिद्ध कर दिया कि 'प्रणव में तीनों गुणों की (जन्म, पालन, मृत्यु) शक्तियाँ भरी है। 'प्रणव, हर्स्य, दीर्घ, प्लुत, तीनों (उदात्त अनुदात व स्वरित) की सहायता से ही उच्चारण किया जाता है। गंधर्व, उपवेद संबंधी शिक्षाओं में स्पष्ट रूप से वर्णित है कि षड्ज आदि सातों स्वर ओंकार के ही अंतर विभाग है। जिस प्रकार बाह्य सृष्टि में सात दिन, सप्त रंग, सप्तधातु दृष्टिगोचर होते है उसी प्रकार एक मात्र शब्द ओंकार सात स्वरों से पूर्ण है। मंत्रों में कहा गया है कि मंत्राणाम प्रणव सेतु अर्थात् मंत्रों का एकमात्र प्रणव ही सेतु है। **भृतहरि ने "वाक्य प्रदीप" में एक श्लोक लिखा है जिसका सार है "दुनिया में ऐसा कोई ज्ञान नही जिसकी पृष्ठभूमि में शब्द अथवा नाद न हो क्योंकि विश्व का संपूर्ण ज्ञान शब्द और नाद से ओत्-प्रोत है बुद्धि को उदात्त पक्षी की ओर अग्रसर करने का प्रथम चरण धरा हो जाता है जब ज्ञान चक्षु जाग्रत हों।** यह स्वयं सिद्ध है कि बिना संगीत के हम जीवन के भव सागर में उलझ जायेगें और संगीत का आधार पकड़कर इस सागर में कमल की भाँति इस मायाजाल से पृच्छन रहकर कमल की भाँति खिलेंगे। संगीत के सना-तन रूप को ईश्वरीय रूप ही मानेगें। अध्यात्म के साथ संगीत का जुड़ाव सदा चलता रहा है और

Scanned with OKEN Scanner

लोक व्यवहार भी संगीत के सानिध्य में मधुर रहता है।

संगीत ने वैदिक काल से आज के आधुनिक काल तक जीवन के व्यवहारिक पक्ष में धार्मिक क्रिया कलापों को पूर्ण करने के लिए सदा ही अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है ऐसा हमे समस्त धर्मो के इतिहास को पढ़कर ज्ञात होता है इसका कारण संगीत की आध्यात्मिक शक्ति है। जो अनजाने में ही मानव मन को सांसारिक बंधनों से मुक्त कर एक अनंत शक्ति के सागर में हिलोरे लेने के लिए मन को मुग्ध कर देती है।

सामवेद ग्रथों को देवयत्व प्रदान करने के लिए ही बनाया गया है। आम गायक को 'उद्गाता' कहा गया है और ओउम् को उद्गीथ कहा गया है जो परमात्मा का स्वरूप है इसके उपरान्त पुराण काल के ग्रंथों में (ईसा पूर्व) बाल्मिकी रामायण और महाभारत का विशेष स्थान है इन दोनों ग्रंथों में तत्कलीन समाज का भरपूर चित्रण है। रामायण में संगीत को गांधर्व संज्ञा प्राप्त है। भारतीय संगीत के मर्मज्ञ विद्वान लेखक **कृष्ण मुले** ने गांधर्व संगीत के बारे में लिखा है कि **''भारतीय संगीत के प्राचीन काल का यह दूसरा खण्ड है जो ईसा के 1400 से 500 वर्ष पूर्व का था। गांधर्व संगीत का यह काल खण्ड संगीत की नई दिशा तथा नया प्रयोग था वेद पूर्ण रूप से आध्यात्मिक ज्ञान का भंडार तथा साक्षात् होने के कारण जनसाधारण के समीप न था अतः जन साधारण के लिए संगीत की जिस शैली का विकास हुआ उसे गांधर्व संगीत कहा गया।'**

अतः इस प्रकार दृष्टव्य है कि संगीत व्यापक शब्द ब्रह्म की अभिव्यक्ति और अनुभूति की विद्या है, इसमें आध्यात्म के गूढ़ रहस्य आवृत्त है ऐसा कहा जा सकता है कि संगीत की उत्पत्ति देवी देवाताओं से उद्भूत एवं पवन पवित्र कला मानी गयी है। नटराज को नृत्य का आदि देवता माना गया है शिव पार्वती का तांडव पहले संहार और फिर सृजन की प्रक्रिया को दर्शाता है। गणेश भगवान को अवनद्य वाद्य मृदंग का प्रथम वादक माना गया तथा विद्यादायिनी सरस्वती देवी को वीणा वादिनी तथा संगीतज्ञों की आराध्या कहीं गई भगवान नारायण का विश्व में गुणगान करने वाले देवर्षि नारद वीणा वादन में परांगत थे वही श्री कृष्ण अपने वंशी वादन के मधुर स्वरों से संगीत को एक नवीन आयाम दिया अतः यह कहा जा सकता है कि संगीत भारतीय अध्यात्म विद्या में गहराई से समाहित कला है।

धार्मिक व आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के कारण ही भारतीय संगीत साधकों ने श्रीकृष्ण, शारंगदेव, नारद, वाल्मीकि, मतंग, कोहल, दत्तिल इत्यादि ऋषियों की गणना की जाती है। इन्होंने संगीत को मानवीय चेतना के परिष्कार एवं ऊर्ध्वगमन के लिए प्रयोग किया है। इनके गायन में इतना दिव्य आकर्षण होता था कि व्यक्ति बरबस ही खिचा चला आता था अतः संतों के द्वारा भजन कीर्तन के माध्यम से जन सामान्य में संगीत को लोकप्रियता मिली इन्होंने संगीत को साधना माना तथा इस संगीत साधना के माध्यम से ही ईश्वर प्राप्ति का सरल साधन माना है।

सन्दर्भः

1. प्रसाद डॉ ईश्वरी तथा शर्मा शैलेन्द्र, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म-दर्शन-
2. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के 4 अध्याय-
3. उपाध्याय बलदेव, बौध धर्म व संस्कृति-
4. महेश उमाशंकर, भारतीय सभ्यता और संस्कृति-
5. विश्व के विविध धर्म-प्रकाशक दयालबाग एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट (आगरा)
6. राधाकृष्णन् धर्म और समाज-
7. धर्मशास्त्र-परम्परा- ऑतार लाल मीण-प्रतियोगिता दपर्ण, आगरा
8. ईश्वरोपासना में संगीत की भूमिका- संगीत मासिक पत्रिका सितम्बर 2000
9. योग और संगीत की समन्विति (पंतजलि) संगीत मासिक पत्रिका अगस्त 2003

Scanned with OKEN Scanner

अप्रचलित रागः शिक्षण, उपयोगिता एवं संरक्षण

डा. संगीता पण्डित

भारतीय संगीत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व 'भाव', 'राग' की संकल्पना में निहित है। स्वर वर्ण से विभूषित ध्वनि की विशिष्ट रचना, जिसमें जन चित्त का रंजन करने की क्षमता हो उसे 'राग' संज्ञा से अभिहित किया गया है। 'राग' विभिन्न लक्षणों की एक समष्टि है, जो अपने आधारभूत स्वरूप को बनाये रखते हुए भी असंख्य भावमय स्वर विनिर्माण करने में सक्षम है। राग के सभी तकनीकी पक्ष, नवीन स्वर रचना का आधार हैं जिस कारण एक ही स्वरावली होते हुए भी स्वरों के कोमल तीव्र भेद, वादी-संवादी, न्यास स्वर, मींड, कण, आन्दोलन इत्यादि के भेद से मेल, थाट एवं रागांगो के आधार पर नित नवीन राग ऐतिहासिक विकासक्रम में सृष्ट हुए, प्रचार में आये एवं गाये बजायें गये तथा आज भी गाये बजाये जाते है। ऐतिहासिक विकास क्रम में जाति, ग्राम राग देसी राग, इत्यादि सोपान को पार करता हुआ प्रयोगात्मक पक्ष परिवर्तन के दौर से गुजरा है जिसके फलस्वरूप प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित राग आज के रागों से स्वरूप में साम्य नही रखते। ये परिवर्तन क्यों और कैसे हुए ये कहना अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि पूर्णतः मौखिक परम्परा होने के कारण बीच की कड़ियाँ लुप्त हो गई एवं आज जो अवशेष के रूप में हमे परम्परा प्राप्त रागों का आधार प्राप्त है वह मध्यकालीन राग चिन्तन का विस्तार मात्र है। उस काल में जो भी राग प्रचलन में रहे उनका लक्षण ग्रन्थों में रागरूप प्राप्त होने पर भी प्रचार से वे अधिकांश राग लुप्त हो गये। उस दौर में जिन-जिन खण्डों में रागों का निर्माण हुआ एवं प्रचार रहा वह विभिन्न घरानों के भीतर ही सीमाबद्ध हो गया। चूंकि संगीत का समाज में बहुत प्रचार नही था अतः अभिजात वर्ग की परिधि में ही राग बने एवं गाये बजाये जाते रहे। 19 वीं शताब्दी के बाद सांगीतिक परिदृश्य में अभूतपूर्व परिवर्तन आया तथा विष्णुद्वय के अथक प्रयास से संगीत समाज के आम लोगों के बीच अपना अस्तित्व बनाने लगा। संगीत प्रदर्शन से परे उस पर उसके लक्षणों पर भी अध्ययन होने लगा एवं संगीत के सांगोपांग अध्ययन क्रम में उसकी अमूल्य थाती 'राग' एवं उसकी विभिन्न रचनायें, बन्दिशें, स्वरूप इत्यादि में भी व्यापक प्रसार व विस्तार हुआ। संभवत मध्यकाल से अब तक की अवधि में जितने नवीन राग बने उससे ज्यादा पूर्ववर्ती प्रचलित राग प्रचलन से लुप्त होकर अप्रचलित रागों की श्रेणी में आ गये क्योंकि राग से सम्बन्धित अनेक मर्यादाओं के पालन की कठोरता एवं रूढ़ियों ने रागों के प्रदर्शन को सीमित कर दिया। हालाँकि प. भातखण्डे जी ने अपनी क्रमिक पुस्तक मालिका के माध्यम से विभिन्न घरानों की विभिन्न रागों तथा प्रचलित एवं अप्रचलित रागों को उनकी बन्दिशों के माध्यम से सहेजने का प्रयत्न किया, जो आज भी संगीत जगत की अमूल्य निधि है। अप्रचलित राग की पृष्ठभूमि में यदि विचार करें तो रागों के निर्माण एवं लुप्त हो जाने की अवधि में निम्न बिन्दु विचारणीय हैं-

- प्रचलित राग की परिभाषा : जो राग वर्तमान समय में अस्तित्व में हैं बहुल रूप में गाये बजाये जा रहे हों।
- अप्रचलित राग : आधार रागों के नियमों में विकृति उत्पन्न करके जो राग सृष्ट हुए वे

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, का. हि. वि. वि. वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

विशिष्ट नवीन राग कहलाये। ये विकृति राग के लक्षणों में निम्न परिवर्तन से बने। इन्हे नवीन राग कह सकते है पर बहुल प्रचार में न होने से अप्रचलित कहलाये।

- स्वरों के कोमल तीव्र भेद से
- एक स्वर के दो रूपों को अपनाकर
- दो रागों को जोड़कर
- आधार राग में दूसरे राग का रागांग जोड़ कर
- जाति में परिवर्तन करके
- अंश स्वर बदलकर

रागों का प्रचार से लुप्त होने का कारण

- वास्तव में मूल राग में ही कल्पनाप्रसूत परिवर्तन करके व्यक्तिगत सौन्दर्य बोध से प्रेरित होकर विभिन्न घरानों के कलाकारों गुणीजनों ने कई नवीन राग बनाये तो पर सिखाने के अभाव में या शिष्यों द्वारा बाद में न गाये बजाये जाने पर केवल लक्षणों के रूप में अस्तित्व में रह गये पर प्रचार से लुप्त हो गये।
- रागों के समय सिद्धान्त को मानने की रूढ़ि से भी सांगीतिक महफिलों, सभाओं में ये राग प्रस्तुत नही हो पाते।
- कुछ राग विभिन्न घरानों में स्वरूप में तो समान है पर उनके नाम भिन्न रखे जाने से वे एक दूसरे से अलग लगते है और लिये जाने पर अप्रचलित सुनाई देते हैं।

अप्रचलित रागों के संरक्षण में संगीत शिक्षण संस्थाओं की भूमिका,

संगीत की शिक्षण संस्थाओं में जो भी पाठ्यक्रम है उनमे प्रयोग प्रचार में प्रचलित रागों को ही प्रारम्भिक कक्षाओं में सम्मिलित किया गया है परन्तु उच्चतर अध्ययन की कक्षाओं में निर्विशेष रूप से ऐसे कई रागों को सम्मिलित किया गया है, जिन्हे विद्यार्थी अवश्य रूप से सीखते है और इसी के माध्यम से कई राग आज भी संरक्षित है। मंचकला संकाय का. हि.वि.वि. के गायन विभाग में पाठ्यक्रम में यह ध्यान रखा गया है कि कुछ सरल परन्तु अप्रचलित राग प्रत्येक वर्ष के पाठ्यक्रम में अनिवार्य रूप से सम्मिलित रहे जिनका राग स्वरूप व बन्दिश विद्यार्थी को याद हो।

संगीत के पाठ्यक्रम में अप्रचलित रागों का महत्त्व एवं औचित्य

- आधार राग सीखने के बाद उस राग में दूसरे राग का मिश्रण, रागांग के मिश्रण आदि तत्वों से प्रत्येक राग के विषय में जानकारी पक्की हो जाती है।
- विभिन्न रागांगो को लगाने से संगीत के तकनीकी संज्ञाओ का प्रत्यक्ष प्रयोग सीखना संभव हो जाता है, जिससे आविर्भाव-तिरोभाव, अल्पत्व-बहुत्व आदि की मर्यादा समझने में आसानी हो जाती है।
- कल्पना को स्थान मिलता है, जो राग संगीत का प्राण स्वरूप है।

अप्रचलित रागों के प्रचार बढ़ाने एवं संरक्षण के उपाय

- पाठ्यक्रम के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष एक थाट के कम से कम दो अप्रचलित रागों की बन्दिशें सिखाई जाए एवं परीक्षा में गाना अनिवार्य हो। इस प्रकार 5 वर्ष में 10 राग याद हो जाएगें।
- किसी एक रागांग के जितने राग है उनकी बन्दिशे जरूर सिखायी जाएं, केवल स्वरों के परिवर्तन एवं संयोग से कैसे राग बदल जाते है इसका प्रमाण भी समझाया जाए। (उच्चतर कक्षाओं में)
- वर्तमान में शोध अध्ययन के अन्तर्गत जो कोर्स वर्क (अनिवार्य) लागू किया गया है, उसमें कम से कम छः अप्रचलित (बन्दिशें) राग सिखाये जाए एवं उसकी परीक्षा ली जाए।

संगीत के विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न घरानों में गुणीजनों में अपनी सामर्थ्यानुसार कई अप्रचलित रागों में रचनाये की है, उन्हे संगीत के विद्यार्थियों को सहज सुलभ कराया है जिसके लिए संगीत जगत

Scanned with OKEN Scanner

उनका ऋणी रहेगा। यूँ तो अप्रचलित रागों की संख्या सैकड़ों है परन्तु उनमें से कुछ उपलब्ध, तो कुछ केवल घरानो में संरक्षित हैं तथापि कुछ संकेत निम्नलिखित है जहाँ अध्ययन करके उन्हें प्रयोग प्रचार में लाया जा सकता है।

- प. ओंकार नाथ ठाकुर कृत, एवं प्रो. प्रदीप दीक्षित सम्पादित संगीताजलि भाग-7 में कुछ चुने हुए अप्रचलित राग एवं उनकी बन्दिशें प्राप्त होती हैं।

1. खट
2. चेती गौरी
3. जलधर केदार
4. टंकश्री
5. त्रिवेणी
6. नीलाम्बरी
7. प्रणवेन्द्र मध्यम (अहीर ललित)
8. बागेश्री बहार
9. बागेश्री कान्हड़ा
10. मलूहा केदार
11. माला गौरी
12. मुल्तानी धनाश्री
13. रामदासी मल्हार
14. लच्छासाख
15. ललितपंचम
16. शिवमत भैरव
17. सामन्त सारंग
18. सावनी बरवा
19. देशी तिलक

- इसके अतिरिक्त प. बलवन्तराय भट्ट कृत **भावरंग लहरी** में भी कुछ अप्रचलित राग व उनकी बन्दिशें सुलभ है।
- अश्विनी भिडे देशपांडे कृत **राग रचनांजलि** में जयपुर घराने की अप्रचलित रागों की बन्दिशे (स्वनिर्मित) दी गई हैं (सी.डी. सहित)
- अभिनव गीतांजलि भाग-3 में वर्णित विभिन्न थाटों के कुछ अप्रचलित राग व उनकी बन्दिशें प्राप्त होती है।

बिलावल थाट -

1. शुक्ल बिलावल **काफी थाट**
2. कुकुभ बिलावल
3. सरपरदा बिलावल
4. नट बिलावल
5. हमीर बिलावल **कल्याण थाट-**
6. प्रतापवराली
7. नट बिहाग
8. पट बिहाग
9. पट मंजरी
10. बंगाल बिलावल

खमाजथाट -

1. गोरख कल्याण
2. खम्भावती
3. जनसम्मोहनी
4. कलावती
5. नारायणी
6. चाँदनी बिहाग
7. बिहागड़ा

1. लंका दहन सारंग
2. सामन्त सारंग
3. वड़हंस सारंग
4. सरस्वती सारंग

1. नन्द
2. जैतकल्याण

- प. रामाश्रय झा कृत अभिनव गीतांजलि के अन्य भागों में भी अप्रचलित राग प्रकार व बन्दिशे दी गई है। (संगीत प्रेमी विद्यार्थी इस तथ्य से अवश्य अवगत होंगे परन्तु पुनः स्मरण दिलाने की दृष्टि से ये नाम गिना दिये हैं।)

सन्दर्भ:

1. ठाकुर पं. ओंकार नाथ, संगीताजलि
2. देशपाण्डे डा. अश्विनी भिडे, राग रचनांजलि
3. झा पं. रामाश्रय, अभिनव गीतांजलि

Scanned with OKEN Scanner

सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन

डॉ. वेणु वनिता

भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्परा की अनन्य धरोहर, सांस्कृतिक सभ्यता का परिचायक, धर्म एवं आध्यात्म की सशक्त नींव तथा कला का उत्कृष्टतम् सार तत्व भारतीय संगीत सृष्टि के प्रादुर्भाव के समय से ही अखिल विश्व की प्रत्येक गतिविधि में व्याप्त होकर उसे जीवन्त बना रहा है, प्राचीन काल से ही यह हमारे आध्यात्मिक एवं भावात्मक जीवन का एक अभिन्न अंग माना जाता रहा है, "संगीत मानव जीवन का वह शुभ एवं दैदीव्यमान शाश्वत् अलंकरण है, जिसकी दिप्ती मानव हृदय को सदैव आलोकित करती रहती है।

भारतीय संगीत ने एक ओर हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को समृद्ध किया और भारतीय संगीत विश्व संगीत का सिर मौर बना। और वहीं दूसरी ओर संगीत अनेकों व्यक्तियों के जीविकोपार्जन का सबल साधन भी बना, संगीत की शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, सुगम, तथा लोक संगीत इत्यादि अनेकों विधाओं के गायक, वादक एवं नर्तक कलाकार, संगीत क्षेत्र से जुड़े शिक्षक, शास्त्रज्ञ, लेखक, शोध निर्देशक, प्रकाशक, फिल्म संगीत के निर्देशक, गीतकार इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में संगीत से जीविकोपार्जन की अपरिमित दिशाएं हैं और उन्हीं में से एक है -

सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन-

संगीत यद्यपि नाद का सूक्ष्म विज्ञान है तथापि संगीताचार्यों ने ध्वनि, नाद, स्वर एवं ताल आदि को भी ग्रन्थों में आबद्ध कर देने में सफलता प्राप्त की है। जिसका परिणाम है संगीत के नाना ग्रन्थ।

ज्ञानराशि का संचितकोश वाड्.मय कहा जाता है, लिपि के अविष्कार के साथ ही छोटे-छोटे अभिलेखों एवं संदेशों को प्रस्तर शिलाओं पर अंकित किए जाने से जो यात्रा आरम्भ हुई थी, वह वर्तमान में कम्प्यूटर की फ्लापी c.d. तक आ गई है। प्राचीनकाल में तालपत्र और भोजपत्र पर लेखन एवं उसके माध्यम से ज्ञान संरक्षण की परम्परा का सूत्रपात हुआ, कागज के अविस्कार एवं प्रिंटिंग प्रेस से ज्ञान-संचय एवं ज्ञान-प्रसार के क्षेत्र में क्रान्ति ही आ गई।

छपाई का काम सर्वप्रथम चीन में प्रारम्भ हुआ, यहाँ 868 ई. में पहली पुस्तक छपी, चीन में छपाई का काम लकड़ी या धातु में अक्षर खोद कर किया जाता था। 1400 ई. में जर्मनी में सीसे को पिघला कर एक-एक अक्षर के टाइप ढाले और इनसे छपाई करने की परंपरा डाली। सन् 1798 में लंदन में लोहे की प्रेस का प्रचलन हुआ।

तत्पश्चात् फ्रांस, इग्लैण्ड, अमरीका और अन्य देशों में प्रेस में कई सुधार हुए। छपाई की दो और विधिंया ईज़ाद हुई प्लेनोग्रफिक प्रिंटिंग, इंटेगिलियों प्रिंटिंग, प्लेनोग्रफिक विधि को लीथोग्राफी भी कहा जाता है इसमें विशेष किस्म के पत्थर छपाई के काम में लाए जाते थे।

लीथोग्राफी से ही ऑफसेट का विकास हुआ इसमें पत्थर के स्थान पर अल्युमिनियम् की प्लेटें प्रयोग में लाई जाने लगीं और छपाई का डिजाइन फोटोग्राफिक विधि से तैयार किया जाने लगा।

अब शनैः शनैः धातु के टाईप का प्रयोग कम होता जा रहा है, और फोटो कंपोजिंग का प्रचलन प्रारंभ हो गया है। जिसकी खोज सन् 1895 में इग्लैण्ड में विलियम फीज ग्रीन ने की, आधुनिक फोटो कंपोजिंग मशीन कंप्यूटर द्वारा नियत्रिंत होती है।

प्रवक्ता, तबला विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली

Scanned with OKEN Scanner

यद्यपि मध्य युग से ही पुस्तकों एवं ग्रन्थों का महत्व बढ़ चला था किन्तु प्रिंटिंग प्रेस से सुविधएं और भी बढ़ गई। अब मनुष्य की स्वाभाविक ज्ञान-जिज्ञासा और पिपासा को शान्त करने में ग्रन्थों ने अविस्मरणीय योगदान देना प्रारम्भ कर दिया।

ज्ञान-विज्ञान की नाना शाखाओं में पुरातन काल से अद्यतन काल तक के क्रमिक विकास का अध्ययन ग्रन्थों द्वारा ही प्रमाणिक रूप में उपलब्ध होता है मानव सभ्यता ग्रथों की सर्वाधिक ऋणी है। इतिहास ग्रंथ युगीन घटनाओं और उनके प्रभावों का ही संकलन है, जिनसे तत्युगीन परिवेश का परिचय प्राप्त होता है। जीवन का रहस्य और गंभीरतम् ज्ञान अनूठे उपनिषदों में सूत्रात्मक संक्षिप्त शैली में संग्रहीत है, इतिहास और काव्य का अद्भूत मिश्रण है पुराण ग्रन्थ। गणित, ज्योतिष चिकित्सा, राजनीति, व्याकरण, एवं विज्ञान आदि सभी कुछ ग्रन्थों में अक्षुण्ण रुप से संग्रहीत है।

आज के इलेक्ट्रॉनिक दृश्य-श्रव्य उपकरणों के होते हुए भी संगीत के ग्रंथों का महत्व लेश-मात्र भी कम नही हुआ है। प्राचीन काल से ही हमें विभिन्न संगीत ग्रंथ प्राप्त होते रहें हैं। विद्वानों ने नित्य प्रति के प्रयत्नों एवं प्रयोगों द्वारा प्राप्त फलादेशों को सदैव सुरक्षित रखने के लिए ग्रंथों की रचना की, उन्होनें अपना पूर्ण जीवन सिद्धान्तों को शास्त्रबद्ध कर उसे प्रमाणिक रुप देने में अर्पित कर दिया और हमें धरोहर के रुप में दिए अनेकानेक संगीत ग्रंथ जिसके फलस्वरुप आज युगों पश्चात् भी प्राचीन शास्त्रीय संगीत परम्परा के अधिकांश पक्षों को आत्मसात किया जा सकता है। जहाँ भी मानव जीवन है वहाँ संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति का माध्यम कला है, कला के संरक्षण विकास एवं परिष्कार के लिए ग्रंथ रचना एवं प्रकाशन की आवश्यकता प्रतीत हुआ करती है।

इक्कींसवीं शताब्दी एवं संचार क्रांति के इस युग में अन्य विषयों की भाँति संगीत साहित्य का भी भरपूर प्रकाशन हो रहा है। सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन अनेकों व्यक्तियों को जीविका प्रदान करता है। संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली निरन्तर नये आयामों की ओर अग्रसर होती हुई उन्नतिशील है। माध्यमिक, स्नातक, एवं स्नातकोत्तर स्तर पर संगीत शिक्षण, संगीत में हो रहे शोध, संगीत शास्त्र के विभिन्न पाठ्यक्रम और अब दूरस्थ संगीत शिक्षा की सोच इत्यादि अपरिमित दिशाएं खुलती जा रही है। चाहे संगीत के विद्यार्थी हों या शिक्षक संगीत से सामान्य अभिरूचि रखने वाले जिज्ञासुओं संगीत के शोधार्थी हों अथवा इस कला से किसी भी रूप में जुड़े हों सभी की आवश्यकता सांगीतिक पुस्तकें एवं पत्रिकाएं रही है मुद्रण एवं प्रकाशन के क्षेत्र में लाभ के अत्यधिक अवसर हैं।

सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन में जीविकोपार्जन हेतु बहुत संभावनाएं है। संगीत शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् इसे व्यवसाय के रूप में चुना जा सकता है, आवश्यकता है संगीत शिक्षा के साथ मुद्रण एवं प्रकाशन सम्बन्धी महत्वपूर्ण तत्त्वों के ज्ञान की। संगीत का विद्यार्थी मुद्रण एवं प्रकाशन के क्षेत्र में भी प्रशिक्षण प्राप्त कर लें तो वह इस क्षेत्र में निश्चय ही सफलता प्राप्त कर सकते है, साथ ही अपने विषय की प्रकाशन सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण करते हुए उसे उचाइयों पर ले जा सकें -

अब हम प्रकाशन से सम्बन्धित प्रमुख पहलुओं पर दृष्टिपात करते हैं-

आधुनिकतावाद की शुरूवात से पुस्तक प्रकाशन के क्षेत्र का व्यापक विकास हुआ है और तेजी से बढ़ते उपभोक्ता उद्योग के रुप में देखा जा रहा है। पुस्तकें जीवन का अर्थ समझती हैं और उनकी उपस्थिति सभी स्थानों पर, प्रत्येक भाषा एवं विषय में विश्व के कोने-कोने में है। अपने अंतिम रुप में जो पुस्तक हमारे समक्ष आती है वह लेखको से पुस्तक विक्रेता तक, अनेक व्यवसायियों के सामूहिक श्रम का प्रतिफल होती है। पुस्तक प्रकाशन उद्योग में अनेक रोजगार हैं विशेषकर भारत जैसे बहुभाषी राष्ट्र में संगीत की लोकप्रियता को देखते हुए संगीत के क्षेत्र में भी इस उद्योग में रोजगार की व्यापक संभावनाए हैं।

सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन उद्यम के अन्तर्गत विभिन्न लेखकों द्वारा लिखी गयी पुस्तकों के मुद्रण और उनकी बाइडिंग में निवेश किया जाता है और फिर उनकी बिक्री की जाती है या उन्हें मुनाफे पर बेचने का प्रयास किया जाता है आम तौर पर विभिन्न बिक्री से होने वाले लाभ का निश्चित प्रतिशत

Scanned with OKEN Scanner

लेखक को दिया जाता है। या फिर आपसी समझौते के अनुसार किसी अन्य तरीके से लेखक को भुगतान किया जाता है या दिया जाता है।

पुस्तक प्रकाशन में प्रशिक्षण की सुविधाएं –भारत में अनेक संस्थान हैं जो पत्रकारिता में पाठ्क्रमों संचालन करते है पत्रकारिता पाठ्यक्रम में जो कुछ भी सिखाया जाता है उसका अंशमात्र ही पुस्तक प्रकाशन में सीधे काम आता है। किसी भाषा एवं विषय की स्नातकोत्तर शिक्षा के उपरान्त भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया जा सकता है, परन्तु प्रशिक्षित होने पर लाभ के अधिक अवसर प्राप्त होतें हैं।

सरकारी एवं अर्धसरकारी प्रकाशन ईकाइयों, जैसे सूचना और प्रसारण मंत्रालय का प्रकाशन विभाग और नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया इत्यादि विभिन्न विषयों से सम्बधित पुस्तकों का प्रकाशन करतें हैं जिनमें संगीत भी सम्मिलित है। यह सब प्रकाशन सहायकों, सहायक प्रकाशन अधिकारी प्रबन्धक या प्रकाशन अधिकारी जैसे पदों के लिए नियुक्ति करते हैं। इन पदों के लिए प्रिटिंग टेक्नोंलॉजी में डिप्लोमा और पद की वरिष्ठता के अनुसार भिन्न-भिन्न अवधि के लिए न्यूनतम् अनुभव अपेक्षित होता है। निजी क्षेत्र में रोजगार के लिए भी प्रिंटिंग में डिप्लोमा अत्यन्त उपयोगी समझा जाता है

पाठ्यक्रम उपलब्ध कराने वाले संस्थान एवं कॉलेज–दिल्ली विश्व विद्यालय अपने व्यावसायिक अध्ययन महाविद्यालयों के माध्यम से पुस्तक प्रकाशन जैसे मुख्य विषय के साथ बी.ए. पास कोर्स का संचालन करता है। विश्वविद्यालय पुस्तक प्रकाशन में दो वर्षीय स्नातकोत्तर डिप्लोमा भी प्रदान करता है।

स्टर्लिंग पब्लिशर्स द्वारा प्रायोजित और सहायता प्राप्त इन्स्टिट्यूट ऑफ बुक पब्लिशिंग दिल्ली प्रकाशन व्यवसायियों और साथ ही प्रथम श्रेणी में नये स्नातकों के लिए वार्षिक सघन (कन्डेन्स्ड) पाठ्यक्रम (दो सप्ताह) का संचालन करता है। पुस्तक उद्योग और व्यापार संघो तथा नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया द्वारा समय-समय पर अल्पावधि प्रशिक्षण पाठ्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। भारतीय विद्या भवन, मुंबई पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के प्रकाशन में प्रशिक्षण के लिए पत्राचार पाठ्यक्रम संचालित करता है।

प्रूफ रीडर/प्रूफ रीडिंग- सभी अच्छे टाइप सेटर प्रूफ रीडर रखतें हैं जिनका काम यथा संभव यह सुनिश्चित करना होता है कि ग्राहक को भेजे जाने वाले प्रूफ 'स्वच्छ' हों। संगीत शिक्षा के उपरान्त इस क्षेत्र को अपनाकर सफल जीविकोपार्जन किया जा सकता है अन्य व्यवसाय से जुड़े लोग इसे अंशकालिक रूप में भी अपना सकतें है। कोई भी प्रूफ रीडर प्रकाशन प्रबंध जैसे अन्य पदों की ओर तरक्की कर सकता है, बशर्ते उसमें सही गुण और सीखने की इच्छाशक्ति हो और वह अपने को उपयोगी सिद्ध करने की दिशा में पहल करें।

रोजगार की संभावनाएं -

भारत में हर वर्ष बड़ी संख्या में पुस्तकें प्रकाशित होती है। जो इस बात का संकेत है कि हमारे यहाँ प्रकाशन गतिविधियाँ पर्याप्त रूप से संचालित होती है। संगीत का क्षेत्र भी इससे अछूता नही है। संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली का निरन्तर उन्नतिशील होना इस विषय में हो रहे शिक्षण एवं शोधकार्य सभी में प्रकाशित पुस्तकों एवं पत्रिकाओं की महती आवश्यकता है, संगीत क्षेत्र के निरन्तर विस्तीर्ण होने एवं विशाल जनसंख्या और अनेक भाषाओं को देखते हुए अन्य देशों के मुकाबले भारत में यह उद्योग रोजगार के बेहतर विकल्प उपलब्ध कराता है।

सार्वजनिक क्षेत्र- इस श्रेणी के अन्तर्गत कई तरह के प्रकाशन संगठन आते हैं। अखिल भारतीय स्तर पर सबसे बड़े संगठनों में प्रकाशन विभाग, जो भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय का एक विभाग है तथा नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिआ सम्मिलित है। इसी तरह एन. सी. आर. टी. भी बड़े पैमाने पर प्रकाशन गतिविधियों से संचालित करता है।

अपनी मुख्य गतिविधियों के पूरक और एक अनुषंगी सेवा के रूप में पुस्तक प्रकाशन में लगे केन्द्र सरकार के अन्य संगठनों में भारतीय सांस्कृतिक संबंध (विदेशो से) परिषद, साहित्य अकादमी, राष्ट्रीय संग्रहालय आदि संगीत की पुस्तकों का प्रकाशन करते हैं।

निजी क्षेत्र- वर्तमान में अपने स्तर से संगीत सम्बन्धी प्रकाशन भी लोकप्रिय हो रहा है। अतः

Scanned with OKEN Scanner

सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन में रोजगार के अवसर सार्वजनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। निजी क्षेत्र में भी इस उद्योग में व्यापक संभावनाए हैं। संगीत के क्रियात्मक पक्ष से अधिक जुड़े लोग भी आज संचार क्रांति के इस युग में कंप्यूटर टाइपिंग इत्यादि के सहज प्रयोग एवं कम समय लगने से इस ओर प्रेरित होकर अपने विचारों से सभी को अवगत कराने के लिए लेखन कार्य तो कर ही रहें हैं साथ ही अपने स्तर से उसका प्रकाशन भी कर रहें हैं।

स्वरोजगार - निश्चित रूप से स्वंय भी एक सांगीतिक प्रकाशक बन सकतें हैं। पुस्तक प्रकाशन संभवतः सबसे आसान उद्योग है जिसे अकेला आदमी भी स्थापित कर सकता है। इसे जीविकोपार्जन के रूप में अपनाने के लिए प्रारंभ में चाहें तो पर्याप्त अनुभव रखने वाले किसी व्यक्ति कि हिस्सेदारी कर सकतें हैं। एक विशेष बात यह भी है कि कॉपीराइट नियमों का सही ज्ञान भी इस क्षेत्र में पदार्पण हेतु आवश्यक है।

भारतीय प्रकाशन उद्योग की जानी-मानी हस्ती सैमुअल इस्राइल द्वारा लिखित एवं नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ''ए कैरियर इन बुक पब्लिशिंग'' इस उद्योग में रोजगार के अवसरों पर प्रकाश डालती है।

इस प्रकार सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन को जीविकोपार्जन के लिए चुना जा सकता है। स्वयं पूर्ण व्यवसाय के रूप में तो प्रारम्भ किया ही जा सकता है जिसके लिए बैंको द्वारा स्वरोजगार हेतु ऋण की भी व्यवस्था है। इसे पार्ट टाईम जॉब के रूप में अपना कर जीविकोपार्जन किया जा सकता है जैसे संगीत की प्रकाशित पुस्तकों की मार्केटिंग कर भी लाभ प्राप्त किया जा सकता है। संगीत की क्रियात्मक पुस्तकों की प्रूफ रीडिंग के लिए भी इस विषय के जानकार व्यक्तियों की आवश्यकता होती है उस तरफ भी ध्यान दे सकतें हैं। विभिन्न संगीत पत्रिकाओं के प्रकाशन से भी किसी न किसी रूप में जुड़ा जा सकता है। विभिन्न परीक्षा एवं प्रतियोगिता सम्बन्धी पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का भी प्रकाशन किया जा सकता है इत्यादि। साथ ही इस क्षेत्र में लेखन कर भी लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

कंप्यूटर शिक्षा एवं संगीत शिक्षा के होने पर भी इस क्षेत्र में पदार्पण कर जीविकोपार्जन कर सकतें है। वर्तमान में प्रकाशन सम्बन्धी अधिकांश कार्य कंप्यूटर टाइपिंग के माध्यम से होता है। साथ ही कंप्यूटर ग्रॉफिक्स का भी भरपूर उपयोग प्रकाशन के क्षेत्र में हो रहा है। पुस्तक मुखपृष्ठ से लेकर पुस्तक में चित्रों को कंप्यूटर स्कैनिंग की सहायता से छापा जा रहा है। प्रकाशन के क्षेत्र में कंप्यूटर के प्रयोग से भी क्रांति आ गई है, सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन के क्षेत्र में भी यह सहयोगी है।

सांगीतिक मुद्रण एवं प्रकाशन के क्षेत्र में कुछ प्रकाशक विशेष स्थान रखते हैं जिन्होंने संगीत के अनेकानेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया उनमें संगीत कार्यालय हाथरस, संगीत सदन प्रकाशन इलाहाबाद, पाठक पब्लिकेशन इलाहाबाद एवं कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, अखिल भारतीय गांधर्व महामण्डल, मिरज, रूपा एण्ड कम्पनी नई दिल्ली आदि चर्चित व प्रमुख रहे हैं।

एक धारणा सी विद्यमान थी कि संगीत की पुस्तकों के प्रकाशन में लाभ अल्प मात्रा में है, किन्तु वर्तमान में यह धारणा टूटी और नये-नये प्रकाशन भी संगीत साहित्य के प्रकाशन करने हेतु आगे आए इनमें राधा पब्लिकेशन्स दिल्ली, कनिष्क प्रकाशन दिल्ली, संजय प्रकाशन दिल्ली, अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्डीगढ़, पंकज पब्लिकेशन, वाणी प्रकाशन इत्यादि ने सक्रिय कार्य किया एवं प्रसिद्धि प्राप्त की।

वर्तमान समय में शोधकार्यों जैसे शोध प्रबन्धों के प्रकाशन का प्रचलन भी बढ़ा है। प्रकाशकों ने इस दिशा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसमें संगीत के प्रकाशित साहित्य में श्रीवृद्धि तो हुई ही साथ ही शोधकार्यों से प्राप्त फलादेशों से संगीत जगत् परिचित हो सका।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा प्रणाली के प्रचार-प्रसार के कारण संगीत की प्रत्येक विद्या के प्रत्येक पक्ष पर शोध कार्यों अथवा पाठ्य पुस्तकों के रूप में सैकड़ों का प्रकाशन हुआ है।

Scanned with OKEN Scanner

राष्ट्रीय एकता में संगीत की भूमिका

डॉ. माधुरी सिंह

सबसे पहले हमें राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता क्या है? यह जान लेना अति आवश्यक है। राष्ट्र शब्द की निष्पति 'राज' धातु से हुई है जिसमें औणादिक 'ष्ट्रन' प्रत्यय जोड़ा गया है।[1] डॉ. श्री एम. मोनियर विलियम द्वारा 'ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' नामक शब्दकोश में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ Realm, Kingdom, Empire, Dominion, District, Country और National किया गया है।[2]

हिन्दी साहित्य जगत के विख्यात 'वृहत् हिन्दी कोश' में राष्ट्र शब्द का अर्थ देश, राज्य और जाति बताया गया है।[3] तथा 'मानक हिन्दी कोश' में राज्य, देश, किसी निश्चित और विशिष्ट क्षेत्र में रहनेवाले लोग जिनकी एक भाषा, एक रीति-रिवाज तथा एक जैसी विचारधारा होती है।

भारतीय संस्कृत के विद्वान प्रों. वामन शिवराम आप्टे द्वारा संकलित संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी में जिसका हिन्दी अनुवाद 'संस्कृत हिन्दी कोश' है। जिस में राष्ट्र शब्द का अर्थ Realm, Kingdom, Empire, Territory, Region, District, Country और Nation किया गया है।[4] जिससे स्पष्ट होता है कि डॉ. विलियम और प्रो. आप्टे के विचार बहुत ही मिलते-जुलते अर्थात् एक जैसे हैं। तथा इनके अलावा भी अंग्रेजी भाषी राजनीति शास्त्रीयों ने 'राष्ट्र' शब्द के लिए छंजपवद शब्द का प्रयोग किया है। तथा भाषाविदों की धारणा है कि यह शब्द मूलतः लैटिन भाषा के छंजने शब्द से विकसित हुआ है।[5] और अनेक विद्वानों ने 'राष्ट्र' शब्द की अनेक परिभाषाएं दी है जो इस प्रकार है–

(1) मानव समाज के उस समूह को राष्ट्र कहते है जो सांस्कृतिक दृष्टि से एक समान हो तथा आध्यात्मिक जीवन की एकता एवं अभिव्यक्ति के प्रति जागरूक हो।

(2) राष्ट्र का तात्पर्य एक ऐसे मानक समूह से है जो एक राज्य के रूप में संगठित हो और स्वभाविक एकता की भावना से कार्य करता हो।

(3) जातीय एकता में आबद्ध उस जनता को राष्ट्र कहते हैं जो किसी अखंड भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती है।

(4) राष्ट्र एक ऐसी राष्ट्रीयता है, जिसने अपने-आपको एक राजनैतिक संगठन के रूप में संगठित कर लिया है और स्वतंत्र है या स्वतंत्र होने की इच्छा करती हो।

राष्ट्र की इतनी सारी परिभाषाओं को पढ़ने से हमे यह ज्ञात होता है कि जातीय एकता, आध्यात्मिक एकता और सांस्कृतिक एकता ही राष्ट्र के स्वरूप के मुख्य तत्व माने गए हैं।

राष्ट्र का स्वरूप मूल रूप से भावनात्मक है परंतु उसके स्थूलरूप भी दिखाई पड़ते है। जिसके बिना राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। ये रूप हैं भूमि, जनसमुदाय व जन संस्कृति। इन तीनों के मिलने से ही राष्ट्र का संगठित रूप बनता है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'पृथ्वी पुत्र' में लिखा है कि 'भूमि तथा भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति इन तीनों के सम्मिलित रूप से ही राष्ट्र का स्वरूप बनता है।[6] अतः राष्ट्र के इन तीनों महत्वपूर्ण अंगों का वर्णन भी अति आवश्यक है।

भूमि :

किसी भी राष्ट्र के लिए सर्वप्रथम उनकी भूमि ही राष्ट्रीय विचारों की जननी है। देश की भूमि का

प्रवक्ता, श्री अर्जुनलाल हिराणी कॉलेज ऑफ जर्नालिज्म एंड परफॉर्मिंग आर्ट्स, सौराष्ट्र यूनिवर्सिटी, राजकोट

Scanned with OKEN Scanner

उसके राष्ट्र के लिए वही महत्व है जो एक मनुष्य का उसके शरीर के लिए। भूमि से उपजे हुए अन्न उसकी सोंधी सुगंध, प्राकृतिक सुंदरता, पेड़-पौधे, नदियां, पहाड़, जंगल,सुंदर पशु-पक्षी, झरने, फूल तथा फूलों के प्राकृतिक सुगंध, विभिन्न प्रकार के फल और फलों का अनोखा स्वाद अर्थात् ऐसी अनेक बाते हैं जो अपनी भूमि को माता कहने के लिए विवश कर देते हैं।

इस प्रकार से ऐसी भावना जब मनुष्य के मन में जन्म लेती है तब वह राष्ट्र का रूप ग्रहण करता है। भूमि राष्ट्र को बाहरी काया प्रदान करती है।

जनः

जैसा कि शब्द से ही विदित होता है जन यानि मनुष्य। जो अपनी जन्मभूमि पर निवास कतरे हैं। ये जन समुदाय राष्ट्र के प्रमुख अंग है। यह भूमि से भी अधिक महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि केवल मातृभूमि से राष्ट्र का निर्माण असंभव है अर्थात् मनुष्य इसके लिए प्राण हैक्योंकि भूमि हो और मनुष्य न हो तो राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। बिना जनसमुदाय के पृथ्वी राष्ट्र नहीं हो सकती।

जन संस्कृति :

जन संस्कृति राष्ट्र का तीसरा जरूरी अंग है। जन और संस्कृति आपस में ऐसे घुले-मिले हैं जैसे फुल में सुगंध। जन संस्कृति हमें लोकगीतों, लोक साहित्यों, लोक नृत्यों, संगीत की विधाओं और जीवन गत मूल्यों में दिखाई देती है, इसलिए यह मानना जरूरी है कि लोक संस्कृति में राष्ट्र की आत्मा बसती है।

आज के इस युग में ऐसे अनेक राष्ट्र सामने आते हैं जिनमें अनेक भाषाएं, अनेक धर्म और अनेक संस्कृतियां आकर मिली हैं फिर भी ये राष्ट्र हैं क्योंकि इनके निवासियों ने सम्मिलित रूप से एक ही शासन के अंतर्गत सद्भाव और स्वेच्छा से रहने का निश्चय कर लिया है।

राष्ट्रीयता :

राष्ट्रीयता को एक ऐसी शक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है जो एक सुनिश्चित भूमि के जनसमुदाय का राज्य को सुरक्षित रखने तथा बाहरी आक्रमणें से बचाने तथा उसकी स्वाधीनता की रक्षा करने के उद्देश्य से राज्य को एक बंधन में बांधती है।

ऋग्वेद में भी राष्ट्रीयता का वर्णन पाया जाता है। इसमें मनुष्य की राष्ट्रीय भावना को दर्शाया गया है कि हम लोग बहुरक्षित स्वराज के कल्पना के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। राष्ट्रीयता एक मानवीय उपलब्धि है तथा मानव जीवन का स्वभाव भी।

राष्ट्रीय एकता :

वास्तव में 'राष्ट्रीय एकता' बाह्य नहीं बल्कि एक आंतरिक तत्व है जो किसी भी राष्ट्र विशेष के नागरिकों की भावनाओं में निहित होती है। भाषा, जाति, धर्म, भौगोलिक इकाई या सभी बाह्य तत्व है, परंतु फिर भी इससे उपर उठकर राष्ट्रीय जीवन का एक ऐसा भावनात्मक पक्ष है जो सभी विषमताओं से उपर उठकर सभी नागरिकों को एक सूत्र में बांध देता है।

राष्ट्रीय एकता या देश के विभिन्न संप्रदायों में पारस्परिक सद्भावना कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे आंखों से देखा जा सके। बल्कि एक ऐसा सद्भाव पूर्ण वातावरण है जिसमें प्रत्येक देशवासी एक-दूसरे का मित्र है या उसके सुख-दुख का साथी है। एक सबल और सुसंगठित देश के निर्माण के लिए सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता अत्यंत आवश्यक अंग है।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और संगीत हमारे समाज को एकता के सूत्र में बांधने का एक बड़ा ही सुंदर और सौम्य तथा भावनात्मक साधन हे क्योंकि जिस समाज में हम रहते हैं वहां देखते हैं कि कोई भी कार्यक्रम हो पारिवारिक या सामाजिक बिना संगीत के ना ही शुरू होता है और ना ही समाप्त। किसी का जन्मोत्सव हो या शादी-विवाह, धार्मिक पूजा-प्रतिष्ठान हो या सत्संग, प्रवचन, संगीत इन महोत्सवों का प्राण होता है।

जब हमारे घर में किसी बालक का जन्म होता है, तो हर्सोल्लास से सारा वातावरण खुशहाल हो जाता है और अपने पड़ोसियों के साथ-साथ से

Scanned with OKEN Scanner

संबंधियों को भी आमंत्रित किया जाता है सोहर (बधाई गीत) गाने के लिए फिर जब वैवाहिक कार्य आरंभ होता है तो भी बिना मंगल गीत के किसी रस्म की शुरूआत नहीं होती है। ये किसी एक घर की नहीं बल्कि मेरे ख्याल से पूरे समाज की परंपरा रही है। साथ ही हमें अपने समाज में यह भी देखने को मिलता है कि किसी परिवार या गांव के लोगों पर महामारी या दैवी आपदाएं आती है तो इसके निवारण के लिए धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं तथा भजन-कीर्तन का कार्यक्रम सामुहिक रूप में इक्कट्ठा होकर किया जाता है। इन पारंपरिक नियमों के अलावा हमारे भक्त कवियों तथा संत-महात्माओं ने भी जब-जब देखा कि हमारे देख पर अखंडता के बादल मंडरा रहे हैं तब-तब इन्होंने अपने गीत, काव्य. और भक्ति रचनाओं के माध्यम से इस देश की एकता को बनाये रखने का अथक प्रयास किया जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। उदाहरण के तौर पर देखा जाए तो भक्त कवि तुलसीदास जी का 'रामचरितमानस' एक ऐसा काव्यात्मक रचना है जो आज पूरे भारतवर्ष में हिन्दुओं का धार्मिक ग्रंथ है। इस 'रामचरितमानस' में पुरूषों में उत्तम चरित्रवाले श्री राम के जीवन लीला का वर्णन काव्य के रूप में लिखा हुआ है और लगभग पूरी देख की जनता इस रचना से या इस ग्रंथ से इतनी प्रभावित है कि देश की कई भाषाओं में इसका रूपांतरण किया गया है।

आध्यात्मिक जगत के सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों से लेकर निम्नवर्ग के लोगों से भी उन्होंने निश्छल प्रेम का संबंध स्थापित किया मानव से लेकर दानव तथा पशु-पक्षियों या यह कहें कि सभी प्राणियों से, बिना जाति और संप्रदाय के भेद-भाव के उन्होंने जो हार्दिक प्रेम स्थापित किया उसका परिणाम पूरे राष्ट्र में देखने को मिल रहा है। श्री राम के जीवन के विभिन्न भूमिकाओं को देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी भूमिकाओं से जो मर्यादा और आदर्श स्थापित किया है वो शायद ही किसी ने किया होगा। इन्हीं आदर्शों और मर्यादाओं के आधार पर वे मर्यादा पुरूषोत्तम कहलाये और जनमानस की आत्मा में निवास करने लगे जिसे कवियों ने गीतों में ढाला और भक्तों ने उस नाम गाथा का गा गा कर पूरे राष्ट्र को राम नाम के रंगों में रंग डाला। इस तरह द्वापर में श्री राम का और त्रेता में श्रीकृष्ण का यशगान भक्त कवियों ने किया जिनकी कथा 'श्रीमद् भागवत गीता' में लिखी गई है। जिस प्रकार महर्षि बाल्मिकी और संत कवि तुलसीदास भगवान श्रीराम के उपासक थे उसी प्रकार भक्त कवि सूरदास, स्वामी हरिदास, मीराबाई आदि भक्त श्रीकृष्ण के उपासक थे। ये रचनाकार सिर्फ रचनाकार और कवि ही नहीं बल्कि संगीतज्ञ भी थे और अपने काव्य को राग-रागिनियों में स्वरबद्ध किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संगीत में वो अदृश्य शक्ति है जो मानव को मानव से तो जोड़ती ही है साथ ही विपरीत मानसिकता वाले प्राणियों में भी प्रेम का भाव प्रकट करती है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी हम देख चुके हैं कि जब कोई सपेरा बीन बजाता है तो विष से भरा हुआ सांप भी उसकी धुन पर नाचने लगता है। साथ ही हम लोगों ने ये कहानियां भी सुनी है कि तानसेन जैसे कलाकार के गाने से पत्थर पिघल जाता थ तथा दीप प्रज्वलित हो जाते थे।

अतः भारतीय संगीत मानवीय प्रेम की भाषा सिखलाता है। जोड़ने की अटूट शक्ति संगीत के मधुर ध्वनि में है। इसके साथ ही संगीत मासिक उद्वेलन, अशांति, तनाव एवं चिंता से उत्पन्न मानसिक रोगों की सर्वोत्तम औषधि है। स्वाधीनता संग्राम के राष्ट्रनायकों ने हर सभा अधिवेशनों में संगीत से ही समस्त राष्ट्र को एकीकृत किया था।

संदर्भ :

1. सर्वधातुम्य ष्ट्रन : सिद्धांत कौमुदी, उनादिपकरण 4-165
2. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ. 876
3. बृहद हिंदी कोश, पृ. 152
4. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी आप्टे, पृ. 469
5. Fundamentals of Political Science & Organisation Cha-2, Page.44
6. अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण, पृथ्वीपुत्र राष्ट्र का स्वरूप

Scanned with OKEN Scanner

विन्ध्य क्षेत्र के लोकगीतों में वर्षागीत

डॉ. बाबूलाल सिंह

विन्ध्य क्षेत्र के बघेली लोकगीतों में संस्कारी गीतों के अलावा और अनेक प्रकार के लोकगीत गाई जाती हैं। सावन गीत, झूला गीत, कजरी, हिन्दुली, तीजा के गीत, नाग पंचमी, रक्षा बन्धन, हरियरी, अमावस, (भादों) कृष्ण जन्माष्टमी (भादों) ढ़ेढ़िया (क्वांर)।

सुन्दर-सुन्दर वर्षा गीत के वर्णन मिलते हैं। बादलों के रिम झिम के साथ जब मोर कूक मारता है और धरती हरी हो जाती है तब आदमी के दिल हरियर हो उठता है और उसके मुख से गीत फूट पड़ता है। मेढ़क कर्र-कर्र करने लगते हैं। खेत में रोपा लगाते, निराई करते, बैल चराते, रास्ते में तथा रात्रि में विश्राम के समय गीत के स्वर गांवों में सुनाई पड़ने लगते हैं। इसी के साथ रिमझिम पानी बरसना, नदी, नाला भर जाना, किसान खुश हैं, इसके साथ त्योहार शुरू हो गये हैं। बहन ओरयानी के नीचे खड़ी अपने भाई को बिसूर रही है कि सावन आ गया भाई बुलाने नहीं आये, इसी प्रकार एक हिन्दुती गीत -

"आने दिना कगवा बड़ेरी चढ़ि बोलय,
आज कागा बोलय ओर मनियउ होना।
दूधि भति लोढ़िया में तोहि देहैं कगवा,
'इ' भैया से कहे रे संदेसवा होना।"

बहन को आशा है कि भाई बुलाने आयेंगे। इसी प्रकार दूसरी बहिन की दशा देखिये, इस गीत में -

"ससुर दुआरे जो चंदन गांध रूखवा (पेड़वा)
ओहि चढ़ि बोलइ कगबउ होना
कगवा तैं बोलेउ बड़ा से सुदिन मां
कि आइ गइ हैं भइया पहुन माउँ होना।"

एक बघेली गीत में बहन सावन लगते अपने पति से कहती है इस प्रकार से -

मोहि जाइ दे मइके, मोर कजतिया बीती जाई होना

पति कहता है इस प्रकार से -

जो तुम धनि मइके जइहा, पनिया कउन भरहई होना

पत्नि इस प्रकार कहती हैं -

बहिनी बलाई लिहा, पनिया भराई लिहा,
घूँट लिहा बहिनी अउ भइया होना।

पर बहन नहीं जाने पाई। भाई के वियोग में उदास होकर अनेकों दिन आँसू बहाई।

पति ही नहीं सासु के दुर्व्यवहार कम नहीं हैं एक कजरी गीत में सावन की रिमझिम को देख कर बहन का मन उदास हो गया। मुर्गा के बोलते सुबेर होता है - आजु वह दहीं नहीं मथती है, सासु गुस्सा जाती हैं तब भाई के आगमन की सूचना मिलती है इसी प्रकार ये गीत -

"भइया केर अवांतिन सुनिन ससुइया,
पै मयबउ दिहिस लुकाइउ होना।
जो तुम सासू मचवा लुकइहा,
मैं खटिया देवइ बइठाउ होना।
जो तुम सासू पिढ़वउ लुकइहा।
तो जंघियउ देवइ बइठाइउ होना।"

---

*रीवा (म.प्र.)

Scanned with OKEN Scanner

बरसात में जेतवा पीसते समय के कजली में भाई-बहन के प्रेम की अभिव्यक्ति मिलती है। एक कजली गीत में कहा गया है।

एक पैइला गेहूँ हैय, नौउ महिमानाबे को भोजन कराता है उसमें भी कुत्ते, बिल्ली, को भी खिलाना और ननद को करलेवा रखना है और औरतों के भाई-भतीजा आते हैं, परन्तु हमारे भाई नहीं आये बरसात के दिन बीत जा रहे हैं, इतने में घोड़ा हिनहिना कर पहुँच गया ।

भाई से बहिन भरे कैसे के करे इया विपत्ति सुनी-

सास से चुनरी मांगती है ,
सासु बोलती हैय,
हमरी चुनरी फटि टूटि गई हो,
पै मांगि लेहू जेठानी कर पियरिअउ होना।
जेठानी कहती है इस प्रकार -
हमरी पिअरिया धोबिया गई हैय
पै मांगि लेउ ननदी कइ घांघरिया होना।
ननद कहती है गीत के माध्यम से -
हमरी घांघरिया फटि-टूटि गई हैइ,
मांगि लेहू भइया कर पगड़िया होना।

भाई सब प्रकार की बात सुने और चुपचाप बाजार से बहिन के लिये चुनरी लय आयें और बहिन को दिये तब बहिन भेंट कीन्हिन इया गीत सुनी -

"भइया के रोये गंगा बही हइ
अउ बहिनी के रोये जमुना होना।

भेंट के बाद भाई बहन से पूछे - बहन क्यों दुबली पतली हो गयी हो, कैसे रहती हो - बहन चुपचाप रह गयी। वह सासु के नजदीक गयी और पूछती हैं खाना क्या बनायें, हमार भाई आज मेहमान हैं, सासु कहती हैं -

चकउड़े की भाजी, अलुड़ी कोदई बनाय ले,

बहू गुस्सा होकर लाल पड़ गई और कहती हैं-

मां आगी लागै।

एक दूसरे प्रकार की कजरी में पति-पत्नी के झगड़ा के कारण पत्नी के बीमारी है - पत्नी, बैद्य बुलाकर कहती है, वैद्य आयेऔर कहते हैं यदि तुम अपनी छोटी ननद को हमें दे दो तो औषधि कर दूँगा, अन्यथा नहीं।

पति कहते हैं -

"धनि चाहे मरि जा, चाहे जी जा
ना देबइ लहुरी ननदिया हो ना"

इस बात पर झगड़ा हो गया पति दूसरा बियाह करने की धमकी दिये।

पत्नी कहती है इस प्रकार से -

"जो तुम स्वामी बिआह दूसर लइहा,
तो दूनउजने झगड़ा मचउबइ होना
जो तुम धना झगड़ा मचइबू
छोरे मां बंगला छबउब होना
जो तुम स्वामी बंगला छबइहा,
तो बंगला मां आगी लगउबइ होना।
जो तुम बंगला जरइहा
तो दिल्ली मां तम्मू तनउबइ होना।
जो तुम सोमी तम्मू तनइहा
त तम्मू मां आगी लगइबइ होना।
हम प्रभु हारे तुम धना जीती
पैय दैय देबर लड़री ननदिया होना।

इस गीत में महिला की जीत हो गई। वर्षा ऋतु में घनघोर बदरी छाई रहती है, बीच-बीच में जी धड़कने वाली बिजली चमक उठती है, इसी प्रकार हिन्दुती गीत सुनिये -

"सावन लपकैय, भादौ गरजै,
तयक मारे न वनफूल तनमेती
तयक मोर न देउ न मोरी माया सोने की गुलुइया,
बिन न जौव न वनफुली चमेलिया बिन नजैसेन

इस प्रकार बरसात में बेला, चमेली, जूही फूलों के वर्णन मिलते हैं, बरसात में अपने खेत में हल बैल लेकर किसान पहुँच जाते हैं, सुन्दरता बढ़ जाती है, ताल तलइयों में पर्याप्त पानी भर जाता है। इस प्रकार ये गीत सुनी -

"अरे रामा वरखा की आई बहार,
बदरिया घिर-2 आये न
अरे रामा भटिगा ताल तलइया,
नदी नाहर रामा,
अरे रामा जोतै खेत किसनवा,

Scanned with OKEN Scanner

बदरिया घिर-2 आये न
अरे रामा रिमझिम उठे फुहार,
चुनरिया भीजन लागी न
अरे रामा खेतवन झूमइ धान
बदरिया घिर-2 आये ने

इसी प्रकार एक कजरी गउनहरी सावन में गाती हैं, सुनी

हरे रामा दूर लीलाधार,
भरन आयेउ पानी रे हारी,
हरे रामा केखर अहिउ बारी
बिटिया हो रामा राम
केखर आहू भउजाई भरन
आउ पानी रे हारी।
हरे रामा राजा जनक के बारी
बिटिया हो रामा।
हरे रामा लखन के भउजाई भरब
आयेउ पानी रे हारी।

बघेली लोकगीत में तरह-तरह के वर्षा गीत मिलते हैं, गांव के लड़के बच्चे इकट्ठा होकर आम, नीम के व क्ष में झूला डारते हैं। सब मिलकर झूला झूलते हैं, झूलत-झूलत रसिया गावैं, एक रसिया गीत सुनी -

"झूला परा नगर बरसाने बदरी बरसन लागे जोर।
राधा कहें सुन बिनती बदरी जिन बरसउ तुम हमरी नगरी
आये सवरिया मोर, बदरी झूला पर नगर बरसाने

बरसात में भगवान श्रीकृष्ण के झूला गीत सावन भादौं में जन्माष्टमी तक गाया जाता है। झूला गीत सुनी -

"झूला पड़ा कदम के छइया, झूला झूल रहे गोपाल
कोया झूला कोया झुलावै कौया खइचै डोर
रामा झूला, कृष्ण झुलावै राधा झुलावै -2
गोपी खइचै डोर, रामा-2 झूला कृष्ण

बघेलखण्डी मा वर्षा वर्णन अन्य गीत के माध्यम से सुनने को मिलते हैं - दादरा गीत किसी रितु में गाया जा सकता है।

"घिर आये कारे बादरा नदी पर
केखर भीजै सुरंग चुनरिया
केखर भीजय पाग पिछउरा नदी पर
घिर आये कारे बदरा नदी पर
राधा के भीरीं सुरंग चुनरिया,
याम के भीजै पाग पिछउरा नदी पर।
घिर आये कारे बदरा नदी पर

तीजा यहाँ का प्रसिद्ध त्योहार है भाद्र शुक्ल तृतीया के दिन स्त्रियाँ निर्जल उपवास करती हैं। रात्रि भर जागती हैं। दिन में पूड़ी, पपड़ी, कुसुली, गुझिया, चिहनाई बनाती हैं। और चतुर्थी के दिन वितरण करती हैं। यह त्योहार सौभाग्य को दीर्घ बनाने के लिये रखा जाता है। उस दिन रात में भजन गीत गाने का प्रचलन है। इन गीतों में स्त्री पति को प्रसन्न करने का प्रयत्न करती दिखायी गयी है। गीत -

"गेदारन बन होइगे हमार राजा गेदा का अरझै,
तामे के गगरा महं जल भरि लायउं, सफरइं ना सासु जी के बेटा ननद जी के भइया।
अरे देवर के भइया, हमार लागइं सइंया गरे बींच बहिया
मइ तौर लगउं पाइंया सबेरे राजा गेदा मंगाय देव।

इसी तरह वर्षा गीत का वर्णन मिलता है, वर्षा ऋतु समाप्त होने लगती है। बघेलखण्ड के वर्षा गीत में एक से एक गीत बढ़कर मिलते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

मानव के जीवन शैली पर भारतीय संगीत का प्रभाव

पंकज राज

संगीत में निहित रोग निवारक क्षमता एवं संगीत से रोगों की चिकित्सा करते हुए कई शोधकर्ता एवं संगीत चिकित्सकों ने अपने-अपने प्रयोग किये।

चिकित्सकों को संगीत चिकित्सा की जानकारी के संबंध में डॉ. अर्नाल्ड एल्सटन ने अपने लेख–"The musicians aproach to musical therapy" में लिखा है -

The use of music for the rapeutic proposes depends upon an evact knowledge of the musical elements rhythm, harmony, melody, tone color, dynamics etc. and upon a full understanding of the way in which these element in their aggregate effect react upon the listner.[1]

अर्थात् संगीत का चिकित्सा रूप में उपयोग, सांगीतिक तत्वों, को सही यथार्थ ज्ञान, लय, हारमोनी, मेलॉडी, टोन, कलर संचालक आदि पर निर्भर करता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक संगीत चिकित्सक को संगीत की इन उपर्युक्त वर्णित सभी बातों की पूर्णरूप से जानकारी एवं ज्ञान होना चाहिए जिसके फलस्वरूप वह रोगी को सही धुन सही स्वरों में, सही लयकारी आदि में चयन कर सुना सके तथा ऐच्छिक लाभ दे सके।

संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में प्रयोग कर रहे संगीतज्ञों एवं चिकित्सकों ने शरीर के विभिन्न रोगों एवं मनुष्य में संगीत द्वारा होनेवाले विभिन्न प्रकृति परिवर्तनों को ज्ञात करने के लिए कई प्रयोग किये जैसे मानसिक विकार, शारीरिक विकार, स्वभाव परिवर्तन, बुद्धि की तीव्रता आदि।

इसके अतिरिक्त विभिन्न रोगों के उपचार हेतु चिकित्सकों ने संगीत का उपयोग किया है। शरीर की मानसिक स्थिति से संबंधित सबसे अधिक फैले हुए रोग अनिद्रा नींद का न आना या फिर नींद में कमी के प्रभाव को जानने के लिए संगीत में कई प्रयोग किये गए और जिसका काफी उत्साहवर्द्धक परिणाम सामने आए। संगीत में निहित इस शक्ति को देखते हुए डॉ. जेक्सन पॉल ने अपनी पुस्तक "संगीत चिकित्सा" में लिखा है कि किसी भी रोगी पर संगीत चिकित्सा की शुरूआत उसे नींद ही लाकर की जानी चाहिए। चूंकि किसी भी रोग के कारण सर्वप्रथम रोगी को नींद ही प्रभावित होती है जिसके कारण सर्वप्रथम संगीत के द्वारा रोगी को नींद लाने की कोशिश की जानी चाहिए। जीवन में नींद के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. जेक्सन पॉल ने लिखा है- "निद्रा सब चिकित्साओं का प्रधान अंग है। नींद सुखकारक वस्तु है, यह अपने आप ही समस्त स्नायुचक्र को, नर्वस सिस्टम को ठीक करती है। निद्रा जीवन रस (Vitaligy) को उत्पन्न करने का मुख्य साधन है। बच्चा सोता-साता बढ़ता है यह सब वैद्यों व डॉक्टरों की सम्पति है। इससे सिद्ध है कि निद्रा में मनुष्य को बढ़ाने की शक्ति है। ढेरों औषधियों से एक घंटे की नींद अधिक लाभकारी है, दिनभर काम करते-करते मनुष्य की इन्द्रियां शिथिल हो जाती है, शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है, निद्रा फिर से मनुष्य के अंगों में शक्ति और बल का संचार करती है।[2]

अर्थात् पं. ओंकारनाथ ठाकुर ने मनुष्य शरीर में होनेवाले कई लाभकारी प्रभावों का निरीक्षण किया।

असिस्टेंट प्रोफेसर, एम.ए. पारिख फाईन आर्ट्स एण्ड आर्ट्स कॉलेज, एच.एन. गुजरात यूनिवर्सिटी, पालनपुर

Scanned with OKEN Scanner

एक लड़का जो निद्रा रोग से पीड़ित था वह पंडितजी द्वारा राग पूरिया के परिणाम से ठीक हो गया।

यदि हम अपने जीवनकाल पर दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि नींद लाने के लिए संगीत का उपयोग हमारे यहां तो काफी प्राचीन समय से चला आ रहा है, हमारे यहां माताएं गीत (लोरियां) सुनाकर ही बच्चों को सुलाती हैं। वैसे आजकल तो इस तरह के संगीत के कैसेट्स बाजार में उपलब्ध है जिन्हें सुनकर अनिद्रा रोग से पीड़ित व्यक्ति स्वयं स्वास्थ्य लाभ ले सकता है।

शिकागो के डॉक्टर मेकमूलर ने तो मानसिक रोगों की चिकित्सा की प्रक्रिया में संगीत को ही एक माध्यम बनाया और अच्छी ख्याति प्राप्त की।

कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी कार्य या विधा जिसके कारण मस्तिष्क को एकाग्र कर चिंता एवं विचारों से मुक्ति दिलाई जाय वह नींद लाने में सहायक होता है लेकिन इनमें संगीत का उपयोग ज्यादा प्रभावी पाया गया है। चूंकि दूसरी प्रक्रियाओं की अपेक्षा संगीत मनुष्य को अपनी पसंद का होने के कारण उसे विचारशून्यता देने के साथ-साथ आनंदित एवं प्रफुल्लित भी करता है जिससे शरीर में अन्य हार्मोन के द्वारा परिवर्तन भी होते हैं जिससे स्वास्थ्य लाभ होता है।

इसी तरह से अनिद्रा रोग का सांगीतिक उपचार किये जाने का उदाहरण देते हुए श्री आर. एन. वर्मा ने अपने लेख "म्युजिक ऐज ए किलर ऑफ पेन" में लिखा है कि इलाहाबाद के मेजर रणजीत सिंह जिनकी कुछ दिनों पश्चात् शल्य चिकित्सा होनेवाली थी जिसके कारण वे अनिद्रा तथा घबराहट से पीड़ित थे। उनकी सांगीतिक चिकित्सा का बयान करते हुए श्री वर्मा ने लिखा है–

Prof. V.A. Kashalkar the well known musicologist and disciple of Pandit Vishnu Digambar then stepped in and oftered to try to bring sleep to the patient with the aid of music. Ultimately the experiment was allowed and it was a complete success. A leap in the mandra and madhya saptaks was sung near the bed of the patient sending him to sound sleep for hours.[3]

अर्थात् जाने माने संगीतज्ञ तथा पंडित विष्णु दिगम्बर के शिष्य प्रो. व्ही. ए. कासालकर अंदर आये तथा रोगी को नींद लाने के लिए संगीत की सहायता लेने का सुझाव दिया। आखिरकार इस प्रयोग की स्वीकृति दे दी गयी तब वह पूर्णतः सफल रहा। रोगी के बिस्तर के पास मंद्र तथा मध्य सप्तक में आलाप किये गये जिसके कारण रोगी घंटों गहरी नींद में सोता रहा।

इसी तरह से एक प्रयोग के दौरान शोधकर्ताओं ने पाया कि किसी भी कारखाने में कार्यरत कर्मचारी को संगीत सुनाया जाए तो उसकी कार्य करने की शक्ति में बढ़ोत्तरी होती है। हिलसीड न्यूजर्सी स्थित श्रीसाल मेयरर्स कंपनी में किये गए प्रयोग के अंतर्गत कर्मचारियों को रोजाना कोडकास्ट के द्वारा 4 घंटे संगीत सुनाया गया। इसका वर्णन करते हुए डॉ. एडवर्ड पेण्डोलस्की ने लिखा है -

Music is presented from 8.30 to 9.30 in the morning, two hours during the lunch period, begining at 11.30 and from 3 to 4 in the afternoon. It was found that employees went throght their daily work with less fatigue.[4]

इसके अतिरिक्त शोधकर्ताओं ने यह भी पाया कि अप्रत्यक्ष रूप से बजनेवाले संगीत में मनुष्य के विचारों को भी बदलने का क्षमता होती है। अपने अध्ययन के दौरान श्री नार्थ ने पाया कि दुकान में जिस देश का संगीत बज रहा हो उस देश की वस्तुओं की बिक्री बढ़ जाती है। अर्थात् उस समय ग्राहक उसी देश की वस्तुएं पसंद करता है।

एक ओर संगीत जहां व्यवहार परिवर्तन तथा बौद्धिक क्षमता में वृद्धि करने में सक्षम है वहीं यह अपने मन को एकाग्र करने की प्रवृति के द्वारा मनुष्य की याददाश्त को बढ़ाता है जिसकी वजह से मानसिक कार्य करने वाले तथा शिक्षा ग्रहण कर रहे विद्यार्थियों के लिए यह बहुत ही उपयोगी हो सकता

Scanned with OKEN Scanner

है। इसी बात की पुष्टि करते हुए एक उदाहरण का वर्णन, समाचार पत्र "फ्री प्रेस जरनल" में छपे एक लेख "म्युजिक थिरेपी" में इस प्रकार किया गया है-

Good music helps in concentration because of its, pervasive influence. A brilliant college student used to play classical music softly while he studied. But in the final year he became so nervous about his studies, he stopped the playing. His ability to concentrate become poor and he went to a psychitrist in dispair R.N. Naug consultant in Behaviour Modification at willingdon Hospital New Delhi asked the student to start playing music again very softly. Persuabed he found that it helped him to relax and put him in the right frame of mind to study.[5]

इस तरह यदि हम मानसिक रोगों पर संगीत के प्रभाव का विश्लेषण करें तो हमें संगीत के द्वि पहलू प्रभाव का पता चलता है। अर्थात् संगीत से जहां मानसिक रोगों का उपचार होकर रोगों की तीव्रता में कमी आती है वहीं मनुष्य के स्वभाव में जो कि इन्हीं मानसिक विकारों के अंतर्गत आता है को भी बदल सकने में सक्षम है। इसके अतिरिक्त यदि कोई स्वस्थ मनुष्य संगीत सुनता है तो संगीत उसकी मानसिक स्थिति को सुदृढ़ करने के साथ-साथ मस्तिष्क का विकास कर बौद्धिक स्तर को बढ़ाता है।

चिकित्सा के तीन प्रमुख क्षेत्रों में संगीत प्रभावी पाया गया है।

1. दर्द, व्यग्रता एवं अवसाद
2. मानसिक, भावनात्मक तथा शारीरिक विकलांगता
3. तंत्रिकीय रोग

वास्तव में मस्तिष्क की कार्यप्रणाली में असंतुलन होने या फिर मानसिक स्थिति में होनेवाले परिवर्तनों का सीधा-सीधा प्रभाव समस्त शारीरिक अवयवों पर दृष्टिगोचर होता है। इसलिए आज की आधुनिक चिकित्साशास्त्र रोग उत्पति के लिए मनुष्य की मानसिक स्थिति को ज्यादा उत्तरदायी मानने लगे हैं। उनके अनुसार यदि मनुष्य चिंता, गुस्सा, तनाव आदि से ग्रस्त है तो उसके रोगी होने की संभावना भी अधिक होती है। जो प्रसन्नचित्त, चिंतामुक्त एवं तनाव रहित जीवन व्यतीत करते हैं वे प्रायः रोगी नहीं होते। वास्तव में मनुष्य की जीवनशैली इसी प्रकार की होनी चाहिए और यह संगीतमय जीवनशैली अपनाने से ही संभव है।

अपने इस मत को विश्लेषित करते हुए चिकित्साशास्त्री मनुष्य की मानसिक स्थिति का संबंध शरीर की प्रतिरोधक क्षमता से बताते हैं। मानसिक स्थिति पर अपना प्रभाव डालकर किस प्रकार संगीत शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है। इसे जानने के लिए किए गए कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि यह उच्च रक्तचाप, आधारी उपापचय तथा श्वसन क्रिया को नीचे कर तनाव की अनुक्रिया को कम करता है। अन्य अध्ययन भी सुझाते हैं कि संगीत एंडोफिनो (प्राकृतिक दर्द निवारक) तथा लाला इम्युनुग्लोबुलिन ए के शरीर में उत्पादन में भी सहायक है। यह इम्युनुग्लोबुलिन घाव भरने में तेजी लाता है, संक्रमण के खतरे को कम करता है तथा हृदय की गति को नियंत्रित करता है।[6]

शरीर में रोग-प्रतिरोध के लिए उत्तरदायी एंटीबॉडी इम्युनुग्लोबुलिन ए का स्तर संगीत से किस प्रकार प्रभावित होता है। इस विषय पर अनुसंधान कर रहे-विल्मेस विश्वविद्यालय के अनुसंधानकर्ताओं ने पाया कि धीमे-धीमे बज रहे जेज की धुन शरीर में एक एंटीबॉडी इम्युनुग्लोबुलिन ए का स्तर ऊंचा करके रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ा देता है। इस अनुसंधान के लिए वैज्ञानिक ने स्थानीय समाचार पत्र "द टाईम्स लीडर" के समाचार कक्ष को प्रयोगशाला के रूप में चुना। उन्होंने पाया कि मात्र 30 मिनट तक जाज सुनने के बाद इस समाचार पत्र कर्मियों में इम्युनुग्लोबुलिन का स्तर छः प्रतिशत बढ़ गया। इन कर्मचारियों ने यह भी स्वीकार किया कि संगीत सुनने के बाद वे स्वयं को पहले के मुकाबले तनावमुक्त महसूस कर रहे थे।[7]

संगीत के इसी रोग प्रतिरोधक शक्ति को बढ़ाने वाले प्रभाव के कारण वैज्ञानिकों में एक नयी चेतना

Scanned with OKEN Scanner

जगी है एवं उसका उपयोग कुछ रोग जैसे एड्स, कैंसर आदि जिसमें शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति को बढ़ाने की आवश्यकता होती है, में करने लगे हैं ताकि इन रोगों को समाप्त करने में सहायता हो।

इस प्रकार संगीत मनुष्य पर मानसिक रूप से प्रभाव डालता है तथा मनुष्य के शरीर को स्वस्थ रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

संदर्भ :

1. डॉ. ऑल्टशूलर म्यूजिक एण्ड मेडिसिन,, पृ. 274
2. पॉल डॉ. जेक्सन संगीत चिकित्सा, पृ. 30-31
3. "The Hindustan Times" daily 25-1-1980 Music as a Killer of pain (Article)
4. Dr. Adward Podolaski.Music for your health, p. 71,
5. समाचार पत्र "फ्री प्रेस जनरल" म्युजिक थेरेपी, लेखिका पद्मिनी, 2.1.1977
6. मासिक पत्रिका "सर्वोत्तम" लेख-संगीत में उपचार की शक्ति, लेखक डेविड एम. मैजी, मई 1993 पृ. 119
7. समाचार पत्र "दैनिक भास्कर" लेख-धुन सुनिये डॉक्टर से बचिये 25.11.1997

Scanned with OKEN Scanner

लोककला में 'लोक' की तलाश

चन्द्रशेखर प्रसाद

जब हम लोककला में लोक की बात करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य उस समाजिक ढांचे की तलाश करने से है, जहां लोककला का उद्भव हुआ था और जहां उसके पनपने के ऐतिहासिक आसार मौजूद थे। इससे हमारा तात्पर्य यह भी है कि वह कला जिसमें मानवीय व्यवहार की कलात्मक अभिव्यक्ति संभव हुई थी। और वहीं पर कला के व्यक्तिगत अनुभवों को समष्टि का रूप दिया जाना भी संभव हुआ।

कला के दो रूप वर्तमान में सर्वमान्य रूप से प्रचलित है। 'लोककला' और 'शास्त्रीय कला'। सबसे पहले यह जाने कि कला क्या है? Oxford English dictionary के अनुसार, ' skill in doing anything as the result of knowledge and practice' अर्थात कला किसी काम को करते हुए उस दक्षता को प्राप्त करना है, जो कालांतर में ज्ञान का रूप ले लेती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता हैं कि मानव द्वारा किसी काम में दक्ष होने की प्रक्रिया के दौरान कला की विभिन्न विधाओं का जन्म हुआ। जैसे मोटे तौर पर नाट्य, चित्र और संगीत कला। कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्य कला, नाट्य करने की दक्षता है। चित्र कला, चित्रकारी करने की दक्षता है आदि। जबकि दक्षता के क्षेत्र में कोई अंतिम सीमा नहीं होती, क्योंकि कला का संबंध मानव जीवन से है और हम जानते हैं कि मानवीय जीवन सतत परिवर्तनशील है।

जहां तक नाट्य कला का प्रश्न है, उपलब्ध ग्रंथों से पता चलता है कि नाट्य कला में लोक को पारिभाषिक शब्दावली में व्यक्त करने का काल कोई बहुत पुराना नहीं है। पाश्चात्य देशों में 'फोक' या 'फोकलोर' शब्द के प्रचलन का श्रेय, विलियम जॉन थॉमस को जाता है। "ब्रिटिश संग्राहलय लंदन के संगहालय संरक्षक सर हेनरी एलिस ने 1813 ईसवीं में पोपुलर एन्टीक्वटीज के नाम से कुछ सामग्री का संकलन किया था। 1846 में विलियम जॉन थॉमस ने अपने एक आलेख में पोपुलर एन्टीक्वटीज के बदले 'फोकलोर' शब्द के प्रयोग का सुझाव दिया था।"[1]

स्पष्ट है कि 1846 से पहले पाश्चात्य देशों में इस तरह की कला को पारंपरिक धरोहर (पोपुलर एन्टीक्वटीज) कहा जाता था। जिसके अंर्तगत विभिन्न जगहों की विभिन्न कलारूपों को शामिल किया गया था। कई जगहों पर इसे पीजेंट आर्ट यानी ग्रामीण कला कहा जाता था। इंग्लैंड में इस तरह के नाट्य को ममर्स प्ले कहा जाता था।

इसी तरह से भारतीय नाट्य परंपरा में भी लोक नाट्य की परिभाषा बहुत पुरानी नहीं है। भारत के विभिन्न हिस्सों में नाट्य के विभिन्न रूप प्रचलित रहे हैं। इन नाट्य रूपों पर एक तो स्थान विशेष के धार्मिक, राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक छाप स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इस संदर्भ में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह हैं कि नाट्य के इन सभी रूपों में तीन तत्व समान रूप से विद्यमान है-नृत्य, संवाद और संगीत। परंतु नाट्य के इन अलग अलग रूपों में कोई एक तत्व ही प्रधान रहता है और मात्र इन्हीं दो कारणों के आधार पर भारत के विभिन्न नाट्यों की अलग पहचान है।

14वीं 15वीं शताब्दी के भक्ति आंदोलन के गर्भ से जो नाट्य रूप उत्पन्न हुआ, उसे लीला नाट्य

शोधछात्र, भारतीय नाट्य विभाग, पंजाब विश्व विद्यालय, चंडीगढ़-160014

Scanned with OKEN Scanner

कहा जाता है। लीला नाट्य इसलिए कि इस नाट्य में भारतीय महाकाव्यों के नायकों की जीवन लीला प्रदर्शित की गयी। फिर धीरे धीरे यह विषय वस्तु भारत के विभिन्न नाट्य रूपों के साथ आत्मसात हो, प्रदर्शित होने लगी। जैसे, जात्रा, अंकिया, भवई, भागवत मेल, कथकलि, यक्षगान, तेरुकुट्टु, कड़ियाला, तय्यम, किरतनिया, प्रहलाद नाटकम् आदि।

जब कि हम देखते हैं कि भरत के नाट्य शास्त्र में संस्कृत नाट्य परंपरा का जिक्र आता है। जिनमें लिखित नाटकों का जो उल्लेख है, वे लिखित रूप में आज भी पाये जाते हैं लेकिन उनके खेले जाने के बारे में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हालांकि भरत ने इस की विस्तृत चर्चा की कि इन नाटकों को खेला कैसे जाये।

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 18वीं शताब्दी तक भारतीय नाट्य परंपरा में लोक को स्वतंत्र रूप से परिभाषित नहीं किया गया। फिर प्रश्न यह खड़ा होता है कि लोक की अवधारणा के स्रोत कहां है। पहली संभावना, भारत में विदेशी नाटकों का आगमन और प्रचलन है। जिसकी शुरूआत कोलकात्ता से हुई थी। दूसरी संभावना, नाटकों का वह मिला-जुला रूप है, जो भारतीय और विदेशी नाटकों के संश्लेषण से बना था। जिसे आधुनिक नाटक कहा जाता है। इस अवस्था में 'लोक' और 'शास्त्र' को भारतीय संदर्भ में परिभाषित करने की एक ऐतिहासिक जरूरत महसूस की गयी होगी। यहां हम अपनी बात को 'लोक' तक ही सीमित रखेंगे। उपलब्ध जानकारी के हिसाब से हमें 'लोक' की जो परिभाषा मिलती है, वह इस प्रकार है।

डॉ कुंजबिहारी दास के अनुसार, 'The people that live more or less in primitive conditions outside the sphere of sophisticated influence.'[2]

इसी तरह डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहां लोक शब्द का अर्थ, "जनपद या गांव नहीं है। अपितु, नगर या गांव में बसने वाली वह जनता है जिसका व्यवहारिक ज्ञान पोथी नहीं है। साथ ही उनमें सरल तथा अकृत्रिम जीवन की सुकुमारता को जीवित रखने की शक्ति होती है।"[3]

इसी तरह मैथिली के रंगचिंतक महेन्द्र मलंगिया ने लोक को, "समाज के सामान्य जन कहा है," इसी बात को विस्तार देते हुए वे कहते हैं, "यह सामान्य जन समाज का वह वर्ग है, जो परिष्कृत संस्कार तथा शास्त्रीय चेतना से दूर रहता है। यह वर्ग समाज में प्रचलित रूढ़, अंधविश्वास तथा प्रवाहपूर्ण परंपरा में अपना जीवन व्यतीत करता है।"[4] इसी तरह की अभिव्यक्ति प्रोफेसर धीरेश्वर झा धीरेन्द्र की है[5], जब कि विजयपाल सिंह ने लोक को, "सदिखन शिष्ट जनतासँ भिन्न रहल अछि" कहा है।[6] इस संदर्भ में लोक को कुछ विस्तार से समझाते हुए डॉ ओमप्रकाश भारती लिखते हैं," लोक, किसी भी राष्ट्र का जनसमुदाय है, वह नगर गांव कहीं भी रह सकता है। यदि उनका ज्ञान या कला बरसों से परंपरित और स्वानुभूत है तथा मौखिक परंपरा में है।"[7]

इन विद्वानों के मतों से एक सामान्य बात स्पष्ट होती है कि लोक से उनका तात्पर्य जन या जनसमुदाय है। और इनके जीवन पद्धति के विभिन्न पहलुओं के आधार पर लोक को समझने की कोशिश की है, जिसमें निवास स्थान, संस्कार, मानवीय व्यवहार, जीवन पद्धति तथा ज्ञान आदि की रूपरेखा स्थापित की गयी है। निवास स्थान को लेकर कुछ शुरूआती मतभेद के बावजूद अंतिम रूप से यह धारणा मान्य हो चुकी है कि वैश्विक समाज में रहने वाला कोई भी जन या जनसमूह लोक हो सकता है। संस्कार को लेकर उपर्युक्त विद्धानों ने कहा है कि जो जनसमुदाय अभिजात्य संस्कार से दूर रहता है, वह लोक है।

सबसे पहले संस्कार क्या है? मनुष्य अपने निवास परिवेश में स्वभावगत और सहज ढ़ंग से जो कुछ सीखता है, वही उसका संस्कार है। परिष्कृत संस्कार, यानी जिस संस्कार को संशोधित किया गया हो, अर्थात, समाज का वह जनसमुदाय जिनके संस्कार सहज रूप में ही है, लोक है। इसी तरह मानवीय व्यवहार के संबंध में, हम कह सकते हैं कि जिस मानव समुदाय का मानवीय व्यवहार अभी तक लिखित रूप ग्रहण नहीं कर पाया, हमारे लिए वही लोक है। ज्ञान के बारे में भी यही कहा जा सकता है कि जिनके ज्ञान का आधार संस्थागत (संस्था से

Scanned with OKEN Scanner

हमारा तात्पर्य, औपचारिक शिक्षा देने वाली व्यवस्था से है) न होकर स्वानुभूत है। यहां कबीर के एक दोहे से इस बात को विस्तार मिलता है- *तेरा मेरा मनुवा कैसे एक होई रे। मैं कहता हां आंखन की देखी, तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता सुलझावनहारी, तू राख्यो अरूझाइरे।।* इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि लोककला 'मगज़िया' है।

अब एक नज़र लोक संबंधी पाश्चात्य अवधरणा पर डालते हैं। लोक के लिए अंग्रेजी में फोक शब्द का उपयोग किया जाता है। डॉ ओमप्रकाश भारती अपनी पुस्तक, बिहार के पारंपरिक नाट्य में लिखते हैं, "फोक शब्द की व्युतपत्ति जर्मन शब्द वोक (अवसा) से मानी जाती है। जिसका अर्थ होता है, गंवारू लोग। जिनको लेकर पश्चिम में यह धारणा थी कि वह जनसमूह जो निरक्षर और अशिष्ट है और आधुनिक सभ्यता से दूर गांव में रहता है। यह जनसमूह समांज या संस्कृति का सबसे पिछड़ा वर्ग है तथा जिसकी वृत्तियां मौलिक रूप से आदिम और अपरिष्कृत है। लेकिन यह धारणा यूरोप में ज्यादा समय तक नहीं रही। मानवतावादी सिद्धांतों ने बहुविधाओं के विद्वानों के चिंतन में मामूली आदमी को जन्म दिया। मानव शास्त्रियों ने जन-जातियों में ज्ञान और बौद्धिकता के दावे प्रस्तुत किये और फोक पुनः परिभाषित हो, सभ्य और ज्ञानी हो गया।"[9]

इन तथ्यों से एक बात स्पष्ट है कि वह जनसमुदाय जिन्हें लोक कहा जाना चाहिये, वह असभ्य और अज्ञानी नहीं है। यहां मुझे यह कहने की छूट दीजिये कि जो प्रमाणिक है वह असभ्य और अशिष्ट क्योंकर होगा! हां, यह सच है कि उनकी वृत्तियां मौलिक है। जहां तक वृत्तियों के परिष्करण का सवाल है, यह एक क्रम परंपरा है। जो मानवीय समाज हो श्रेणीबद्ध संगठन में बांटती है। अतः वह जनसमुदाय जिनकी वृत्तियां मानवीय समाज की श्रेणीबद्धता में सबसे प्रथम पायदान पर है, वही लोक कहे जाने चाहिये।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि लोक, समाज का वह जनसमुदाय रहा है, जिनकी वृत्तियां, मानवीय समाज की श्रेणीबद्धता में सबसे प्रथम पायदान पर है, जिनके संस्कार स्वभाविक और सहज रूप में हैं, जिनका मानवीय व्यवहार अब तक लिखित रूप ग्रहण नहीं कर सका है तथा जिसकी शिक्षा स्वानुभूत और कुदरती है।

लेकिन ये सारी दलीलें लोक की स्वभाविक परिभाषा के लिए परिपूर्ण नहीं जान पड़ती। क्योंकि जहां तक मेरी समझ है, इन विद्वानों का लोकजीवन में कला के विकास को समझने का रूझान कम ही रहा लगता है। जब कि हम लोक को उनके द्वारा विकसित कला के संदर्भ में समझ सकते है। यहां एक बात और भी समझ में आती है कि इन विद्वानों ने लोक को, उसकी कलात्मक विकास यात्रा से काटकर समझने का प्रयास किया है।

इनकी सारी लोक संबंधी दलीलों और परिभाषाओं के बावजूद, मूल प्रश्न तो अभी हमारे सामने मुंह बांये खड़ा है, कि गोया लोक अपने आप में क्या है ? इसका उत्स कहां है और आखिर में यह अपना स्वरूप कैसे ग्रहण करता है ?

अब इन्ही सवालों की पड़ताल करते हुए हम अपनी बात को आगे बढ़ायेंगे।

मनुष्य के ज्ञान अर्जित करने का सफर मनुष्य की श्रम प्रक्रिया के साथ साथ हुआ है। मार्क्स ने कार्य को परिभाषित करते हुए कहा है, "श्रम की प्रक्रिया सोद्येश्य गतिविधि है। जिसके द्वारा प्राकृतिक तत्वों को मानवीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जाता है। यह मनुष्य और प्रकृति के बीच भौतिक तत्व के विनिमय करने की एक आम शर्त है। यह एक ऐसी शर्त है जिसे प्रकृति मानव जीवन पर नित्य लागू करती है और इसलिए यह सामाजिक जीवन के रूपों से स्वतंत्र है। अथवा यूं कहें कि यह समान रूप से समस्त सामाजिक रूपों में पाई जाती है।"[10]

उपलब्ध ग्रंथों से पता चलता है कि मनुष्य के मनुष्य बनने की प्रक्रिया, उपकरण बनाने की प्रक्रिया के साथ साथ विकसित हुई है। सृष्टि के जैवीय विकास की धारा में मनुष्य के हाथ ज़मीन से उठकर स्वतंत्र हो गये। जैसा कि गोर्डन चाइल्ड बताते है।

"मनुष्य औजार बना सकते हैं क्योंकि उनके अगले पैर हाथों में बदल गये हैं। वे चीजों को दोनो आंखों से देख सकते हैं। इसलिए दूरियों का निर्णय ठीक ठीक कर सकते हैं और मनुष्य का स्नायुतंत्र बहुत नाजुक और दिमाग बड़ा जटिल होता है इसलिए वे हाथ और बांह के संचालन का नियंत्रण कर

Scanned with OKEN Scanner

सकते हैं तथा उनका बिल्कुल सही तालमेल उस चीज़ से बिठा सकते हैं जिसे वे दोनों आंखों से देखते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि वे किसी अंतर्गत सहज बुद्धि से औजारों का निर्माण और इस्तेमाल करना जान लेते हों, यह तो उन्हें प्रयोग से ही परीक्षण पद्धति और तुलनात्मक दृष्टि से ही सीखना पड़ता है।''[11]

अतः हाथ मनुष्य के विशेष अंग के रूप में एक क्रांतिकारी उपलब्धि साबित हुआ। और हाथ और वस्तुओं के बीच के संबंध को स्थाई और निरंतर बनये रखने के लिए विषय और उद्देश्य का प्रतिस्थापित होना निहायत ही जरूरी था। विषय और उद्देश्य, यानी साधन और साध्य। मनुष्य द्वारा उपकरण इस्तेमाल की प्रक्रिया में पहली अवस्था थी, साध्य के लिए साधन की खोज। इसी बात को कला की तरफ बढ़ते हुए मनुष्य के रूप में देखने का प्रयास करेंगे। जैसा कि अंर्स्ट फिशर अपनी पुस्तक 'कला की जरूरत' में लिखते हैं, ''अपने कार्य के द्वारा मनुष्य दुनिया को जादूगर की तरह रूपांतरित करता है। कोई लकड़ी का टुकड़ा, कोई हड्डी या कोई पत्थर एक नमूने से मिलता-जुलता बनाया जाता है। और इससे वह उसी नमूने में रूपांतरित हो जाता है; भौतिक वस्तुएं संकेतों, नामों और धारणाओं में रूपांतरित हो जाती है। मनुष्य स्वयं पशु से मनुष्य में रूपांतरित हो जाता है। मानवीय सत्ता में मूल में मौजूद यही जादू समस्त कला का सार तत्व है। और यही शक्तिहीनता की भावना के साथ शक्ति की चेतना भी उत्पन्न करता है। उपकरण बनाने वाला वह पहला आदमी, पहला कलाकार था जिसने पत्थर को ऐसा रूप दिया कि पत्थर मनुष्य की सेवा कर सके। नाम देने वाला वह पहला आदमी भी एक महान कलाकार था, जिसने प्रकृति की विशालता में से एक वस्तु को छांट कर अलग किया, जिसने किसी चिह्न के माध्यम से उसे वश में किया और भाषा की इस सर्जना को शक्ति के उपकरण के रूप में अन्य मनुष्यों के हवाले किया। संगठन करने वाला वह पहला आदमी कला का पैगंबर था, जिसने लययुक्त राग के द्वारा कार्य की प्रक्रिया में तालमेल बिठाया और इस प्रकार मनुष्य की समष्टिगत शक्ति को बढ़ाया। वह पहला शिकारी, जिसने पशु का रूप धरा और अपने शिकार के साथ इस तादात्म्य के जरिये शिकार की प्राप्ति में वृद्धि की, पाषाण युग का वह पहला आदमी जिसने उपकरण या हथियार को एक विशेष खांचे या अलंकरण द्वारा चिह्नित किया, वह पहला मुखिया जिसने समान प्रकार के पशुओं को आकर्षित करने के लिए प्रस्तर-पिंड या वृक्ष के ठूंठ पर उस जाति के पशु की खाल मढ़ी; ये सभी कला के आदिपुरुष थे।''[12]

कला के इस आदिपुरूष की खोज के बाद सिद्धांत रूप से एक बात हमारी समझ में आती है कि कला का जन्म मनुष्य की आवश्यकताओं से हुआ है। ये आवश्यकताएं जिस पद्धति विशेष से पूरी की जाती रही, उस पद्धति विशेष में उत्तरोत्तर हुए विकास को, कला में हुए विकास के तहत सहज ही समझा जा सकता है। इस बात को आदिवासियों द्वारा आग के चारों तरफ किये जाते रहे सामूहिक नृत्य में देखा जा सकता है। आधुनिक शहरी जीवन के लिए लोककला का जो अर्थ अब बचा रह गया है, उसका आदिम रूप आदिवासी नृत्य ही है। या उनके घरों में बने हुए चित्र हैं या फिर लोहे को ढाल कर बनाई गयी विभिन्न आकृतियां हैं। अभी तक इन कलाकारों ने अपनी इस कला को कोई विशेष नाम नहीं दिया। बावजूद इसके, इस तरह की कलाएं क्षेत्र विशेष की संस्कृति का बड़े सटीक रूप से प्रतिनिधित्व करती आयी हैं। यह अवस्था हमारे उस कला के आदिपुरूष का विकास है, जिसने किसी पशु की खाल को किसी पत्थर या वृक्ष के ठूंठ पर मढ़ कर, यह साबित किया कि मेरी इस कला ने, मेरे श्रम और जीवन को और आसान कर दिया।

लेकिन जिस रूप में हम आज लोककला को समझते हैं, यह उसके प्रारंभिक रूप की अगली पायदान है। क्योंकि अभी तक किसी सत्ता ने लोगों को अपने अनुसार अनुशासित नहीं किया था अर्थात अभी तक शारीरिक और मानसिक श्रम का साफ-साफ विभाजन नहीं हुआ था।

लोककला की अगली पायदान को समझने के लिए यह जरूरी है कि उत्पादन के साधनों के विकास को, विवाह संस्था को, मानसिक श्रम के विभाजन को केंद्र में रखा जाए। इन समस्त कुदरती और व्यवहारिक संघर्षों के दौरान प्राप्त अनुभवों को मनुष्य

Scanned with OKEN Scanner

ने सार्वजनिक करने की आवश्यकता महसूस की। क्योंकि दुःख और सुख की भावनाएं बिना सार्वजनिक रूप धारण किये कुदरती तौर पर व्यक्त नहीं हो सकती। अतः अब हमारे लिए यह समझना आसान हो गया है कि किस तरह व्यक्तिगत अनुभव सार्वजनिक होते ही सिद्धांत का रूप धारण कर लेता है। लेकिन किसी भी व्यक्तिगत अनुभव को सार्वजनिक करने का जो माध्यम मनुष्य चुनता है, वह समष्टि को बांधने की क्षमता रखने वाली पद्धति की खोज है। और वह पद्धति समष्टि की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली भी हो। क्योंकि कलाकार का व्यक्तिगत अनुभव, उसके समष्टिगत अनुभव पर आश्रित है। इसलिए एक कुम्हार (जिसे गार्डन चाइल्ड ने 'मैन मैक्स हिम सेल्फ' में 'पॉट क्रियेटर' कहा है), एक नृत्यांगना और एक गायक-ये सब मिलकर अपने व्यक्तिगत अनुभवों से समष्टि की कलात्मक जरूरतों की पूर्ति करते हैं। और यह किसी स्थान विशेष की कलात्मक थाती होते हैं। मैं समझता हूं कि किसी एक आत्मनिर्भर भारतीय गांव में इस तरह के कलाकार आमतौर पर पाये जाते रहे होंगे। कला की इस सार्वजनिकता को, विकास की एक अवस्था के बाद संज्ञापित किया जाता रहा है। इस को क्षेत्र विशेष की कला कहते हैं। जिसे आमतौर से शहरी लोग लोककला के नाम से संबोधित करते हैं।

चूंकि लोककलाकार अपनी अभिव्यक्ति में महारत हासिल कर लेता है तो फिर वह बहुत सारे अनुभवों को विभिन्न तरीकों से व्यक्त करने की लालसा रखता है। यही कारण है, और जैसा कि हमने ऊपर बताया है कि एक कलाकार अपनी संपूर्ण चेतना के साथ साधन ही होता है, उस साध्य को व्यक्त करने का, जिसका चुनाव, प्रारंभ में वह खुद करता है। इसके बाद में उसके अनुभवों की पूंजी समाज के जीवन-व्यवहार से प्राप्त होती रहती है। उदाहरण के तौर पर आज हम जिन स्थापित लोककलाओं को जानते हैं, लगभग उन सभी लोककलाओं का विषय अनुष्ठानिक और महाकाव्यात्मक है। जिनको जनसमूह तक प्रस्तुत करने के एक साधन के रूप में कलाकार खुद पीढ़ी-दर-पीढ़ी महारत हासिल करता आया है। जब कि मूल विषय में कोई बुनियादी तब्दीली नहीं आई है। इसका एक कारण तो यह है कि मूल विषय जनता के चित्त में स्थायित्व प्राप्त कर चुका है। हम कह सकते हैं, और मैं, खास करके, मैथिली लोक नाट्य 'नाच' के संबंध में कहूंगा कि ज्यों ही किसी गांव में किसी कलाकर मंडली ने डूंडी पिटवाई कि आज रात नाच होने वाला है, तो ग्रामीणों के मन में तुरंत एक प्रश्न उठेगा कि 'भाईजी, नाच तँ ठीक अछि मुदा, कोन नाच नचतै? तब कुछ निर्धारित कथाओं में से उत्तर होगा-'सलहेस' नचतै वा 'शीत-बसंत' नचतै वा 'रानी सारंगा' नचतै आदि आदि।

मसलन, ग्रामीण जनों के चित्त में ये कथाएं पहले से मौजूद हैं। अर्थात ये मगज़िया हैं। और कला के इसी मगज़िया रूप को जब ग्रामीण मंच के सामने बैठकर साकार रूप में देखते हैं, तब वे एक ऐसे सुख का अनुभव करते हैं, जिसे वे कथा के अभिनीत रूप के अभाव में प्राप्त नहीं कर सकते। इससे एक बात साफ होती है कि जो मगज़िया है वह 'साध्य' है, जो साधन के अभाव में अपूर्ण है।

ठीक इसी तरह एक 'साधन' है, जो 'साध्य' को प्राप्त करने की अभिनय प्रक्रिया है जो दर्शकों के अभाव में अपूर्ण है। अतः किसी भी लोककला का यह स्तर साधन-साध्य और दर्शक, जिसके मगज़ में साध्य पहले से मौजूद है, के अभाव में साकार नहीं हो सकती।

इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि दर्शक कला के मगज़िया रूप को जब मंच पर साकार होते देखता है, तब वह इस बात की उम्मीद करता है कि वह साधन के साथ एकाकार होकर आनंद की उस ऊंचाई तक पहुंचे, जहां सहसा उसका मन कह उठे, 'वाह, क्या बात है'। यह दर्शक के आनंद की इस अवस्था तक पहुंचने और साधन का साध्य के साथ पूर्णतः एकाकार हो जाने की अवस्था है। अर्थात अब दर्शक के लिए, साधन और साध्य में फर्क करना असंभव हो जाता है। एकाकार के इस रूप की प्रामाणिकता, दर्शक के मन में उत्पन्न आनंद की वह अवस्था है, जिसे देखने की लालसा हर कलाकार के जीवन में सतत बनी रहती है। और ऐसे कलाकार को देखने की इच्छा दर्शक के मन में भी जीवनभर बनी रहती है। तब एक सार्वजनिक

Scanned with OKEN Scanner

घोषणा होती है कि 'वाह, वह तो एक महान कलाकार है', और वह महान इसलिए है कि वह मुर्दों में जान डाल देता है। वह उस रूप को साकार कर देता है, जिसे देखकर दर्शक सुख के चरम तक पंहुचता है।

इसलिए लोककला शुरू में साधन और साध्य के एकाकार से शुरू हुई थी, वह आज जिस रूप में मौजूद है, वहां विषय लोगों के मगज़ में विद्यमान है लेकिन साधन उनके बीच से आये या न आये, उनके बीच में हो या न हो, यह आवश्यक शर्त नहीं है। क्योंकि लोककला के साध्य का लोगों तक सीमित रहना इसलिए संभव है, जैसा कि गोर्की कहते हैं, "मनुष्य सौ साल का होकर मर जाता है लेकिन उसकी कृतियां शताब्दियों तक ज़िदा रहती है।" ये कृतियां हमारी लोक का वही साध्य है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी जनता के मगज़ में स्थाई रूप में या हल्के फुल्के परिवर्तन के साथ घर किये हुए हैं। लेकिन कलाकार, चूंकि वह मानव है, इसलिए शताब्दियों तक ज़िदा नहीं रह सकता। कला एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांरित होती चली जाती है। इसलिए जब नई पीढ़ी उस विषय को अभिनीत करती है तो वह उस विषय की पुनरावृति होती है। अतः पीढ़ियां बदलती जाती है विषय नहीं बदलता।

इससे यह नतीजा निकलता है कि लोककला समाज की ऐतिहासिक धरोहर है लेकिन कलाकार नहीं। कलाकार को सीखना होता है, उस कला को अभिनीत करने की कला, जिसका एक ऐतिहासिक रूप पहले से लोगों के ज़ेहन में मौजूद है। अतः हमारी समझ में तमाम कलाओं का वह रूप जो मगज़िया है, असल में वही 'लोक' है। इसलिए इस कलाकर्म को करने वाले कलाकारों को सुविधा के लिए, लोक-कलाकार कहा जा सकता है। इसमें इतना और जोड़ देना जरूरी है कि इस तरह के कलाकर्म को करने वाले वंशानुगत कलाकार लोक-कलाकार कहलाने के पहले अधिकारी है।

संदर्भ :

1. भारती ओमप्रकाश 'बिहार के पारंपरिक नाट्य'-, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलाहाबाद, पृष्ठ-16
2. मलंगिया महेन्द्र प्रकाशक 'मैथिली लोकनाट्यक विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण, मैथिली लोकरंग, नई दिल्ली पृष्ठ - 19
3. वही, पृष्ठ-19
4. वही, पृष्ठ-20
5. झा प्रो. धीरेश्वर 'धीरेन्द' मिथिलाक किछु पूर्वांचलीय लोक गायकी विवेचन-, स्मारिका, मिथिला नाट्य कला परिषद, जनकपूर, नेपाल, 2046
6. मलंगिया महेन्द्र , प्रकाशक 'मैथिली लोकनाट्यक विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण, मैथिली लोकरंग, नई दिल्ली पृष्ठ - 19
7. 'बिहार के पारंपरिक नाट्य'-ओमप्रकाश भारती, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलाहाबाद, पृष्ठ-18
8. द्विवेदी हजारी प्रसाद कबीर
9. भारती ओमप्रकाश, 'बिहार के पारंपरिक नाट्य'-, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलाहाबाद, पृष्ठ-16
10. फिशर अर्न्स्ट, कला की जरूरत-, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-18
11. वही, पृष्ठ-20
12. वही, पृष्ठ-37

अध्ययन सामग्री:

1. माथुर जगदीशचंद्र परंपराशील नाट्य
2. kapila vatsyayan, Traditional Indian theatre
3. Prakash H.S.shiva, Incredible India-traditional theatres
4. Mukalraj Anand, The hindu view of art

Scanned with OKEN Scanner

व्यक्तित्व के विकास में संगीत और योग की भूमिका

डॉ. डौली

संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य कलाओं के अन्तर्गत मानव विभिन्न क्रियायें करते हैं जिससे मानव का शारीरिक विकास होता है। मानव कल्याण के लिए सबसे प्रभावशाली और कल्याणकारी माध्यम की अगर बात करें तो वो निश्चय ही संगीत है। संगीत और व्यक्तित्व में इतरेताश्रय सम्बन्ध है अर्थात् ये एक दूसरे के अधीन है।

भारतीय संस्कृति प्राचीन काल से ही समृद्ध रही है। वेदो के श्रवण एवं दर्शन इस बात का सूचक है। सामवेद साक्षात संगीत ही है। इसी प्रकार संगीत एवं योग वैदिक काल से ही मानव जीवन को प्रभावित करते रहे है। तभी से संगीत एवं योग को विज्ञान की भाँति देखा गया है।[1]

भारतीय सभ्यता एवं सांस्कृति धरोहरों में एक महत्वपूर्ण और असीमित ज्ञान का भंडार संगीत माना गया है। आज वैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि संगीत के श्रवण मात्र से मनुष्य की मृत कोशिकाओं में जान आ जाती है और मनुष्य धीरे-धीरे स्वस्थ और सुदृढ़ होने लगता है।[2]

योगसाधना और संगीत साधना की प्रक्रिया में परस्पर काफी भेद है परन्तु भेद होते हुए भी इन दोनों प्रक्रियाओं में कुछ साम्यता दिखाई पड़ती है। मूल भेद तो यही है कि योगसाधना अनाहत नाद की साधना है जबकि संगीत साधना आहत नाद की साधना है। इस मूल भेद के बावजूद योगसाधना एवम् संगीत साधना में परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध पाई जाती है। जैसे गायक के गुणो का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि उनमें कुछ ऐसे गुण है जो कलाकर की व्यक्तिगत प्रतिभा से अर्थात् ईश्वर प्रदत प्रतिभा से संबंधित है। परन्तु कुछ गुण ऐसे हैं जिन्हें योग साधना से परिपुष्ट किया जा सकता है। जैसे- स्वर की मधुरता सुशरीर, कण्ठ ध्वनि का लचीलापन आयत कण्ठ, अजस्त्र लयता, सुन्दरता आदि गुणों का सम्बन्ध मूलतः शरीर, कण्ठ और कण्ठ तन्त्रियों से है। यह गुण जन्मजात भी होते है और यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम द्वारा भी सिद्ध किए जा सकते हैं। क्योंकि आधारभूत में विधमान यह शारीरिक गुण उचित योग साधना से विकसित एवं संबंद्धित किए जा सकते हैं। गायक को सावधान एवम् एकाग्रचित होना आवश्यक है ये दोनों वृतिया मस्तिष्क से संबंधित है। धारणा की क्षमता अभ्यास की दक्षता तथा परिश्रम करने पर भी थकान का अनुभव न हो यह मानसिक गुण तब तक सम्भव नहीं है जबतक मन की चंचलता को वश में न किया जाए। इस वशीकरण के लिए ध्यान एवं अभ्यास की आवश्यकता होती है जो योग साधना के द्वारा ही संभव है।[3]

योग का वास्तिवक अर्थ है जोड़ या संबंध। परंतु योग का आध्यात्मिक अर्थ है आत्मा अर्थात मानसिक चेतना का परमात्मा से मिलन। योग हमारे अन्दर एक साकारात्मक सोंच लाता है और इस तरह यह व्यक्तित्व को विकसित करता है। व्यक्ति के विकास से समाज विकसित होता है एवं समाज के विकास से सम्पूर्ण राष्ट्र विकसित होता है। अतः योग व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को सदभाव पूर्ण जीवन की शिक्षा देता है।

एम.म्यूज (बी.एच.यू.), पी.एच.डी.(बी.आर.ए.बी.यू. मुज.)

Scanned with OKEN Scanner

हमारा व्यक्तित्व तभी विकसित होगा जब हमारा तन एवं मन दोनों स्वस्थ रहेगा। योग के द्वारा मानव जीवन से जुड़े कई लाईलाज रोगों से मुक्ति पाई जा सकती है। शारीरिक स्तर पर योगासन, प्राण स्तर पर प्राणायाम एवं मानसिक स्तर पर धारणा ध्यान एवं समाधि व्यक्तित्व के बहुआयामी विकास में सहायक है।

योग के माध्यम से अपराधिक प्रवृतियों को भी परिवर्तित किया जा सकता है। योगाभ्यास प्रारंभ करने से मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर अदभुत परिवर्तन होना आरंभ हो जाता है। मानव की नकारात्मक प्रवृत्तियों जैसे हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार आदि में कमी आती है एवं साकारात्मक प्रवृतियों जैसे दया, करूणा प्रेम एवं भ्रातृत्व आदि विकसित होती है। अतः योग मानव के विचारों में परिवर्त्तन लाने का एक सशक्त माध्यम है।

योग हर उम्र के स्त्री-पुरूष के व्यक्तित्व विकास में सार्थक है। विद्यालय जानेवाले बच्चों में योगाभ्यास के द्वारा एकाग्रता, स्मरण, शक्ति बौद्धिक प्रखरता में वृद्धि की जा सकती है। शारीरिक दृष्टि से विकलांग एवं मंद बुद्धि वालों पर भी योग का प्रयोग करने पर आशातीत सफलता मिलती है।

हमारा युवा वर्ग, जो आधुनिक कार्यशैली एवं स्पर्द्धा के युग में सबसे अधिक तनाव एवं भटकाव की स्थिति में है, योग को अपना कर निरोग शरीर एवं स्वस्थ मस्तिष्क प्राप्त कर सकते हैं।[4]

ऋषि मुनियों को संगीतात्मक योग साधना के रूप में प्रकट हुई, उन्होंने ऊँकार से सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड को पाया। यह प्रणव आज भी योग के माध्यम से सकल जगत में संगीत योग का उदाहरण प्रत्यक्ष है। ऊँकार की अत्यन्त ऊँची तथा नीची गति है जो कि आरोह-अवरोह के रूप में संगीत का आधार है।[5]

वर्तमान समाज जटिल हो रहा है और तेजी से बदल रहा है। अनेक समाजिक समस्याएँ जन्म ले रही है यह जटिलता व्यक्ति के व्यक्तित्व में समाहित हो रही है, जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व भी विघटित हो रहा है। संगीत का चरम उद्देश्य है ईश्वरोपासना। संगीत के माध्यम से संगीतज्ञ का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। पवित्र अन्तःकरण से उसके अन्तःस्थल में नैतिकता एवं सदाचार की प्रतिस्थापना होती है जो उसके व्यक्तित्व को सर्वोच्य बनाने में अवरणीय योग प्रदान करती है। संगीत के स्वर, लय और ताल को समन्वित रखने के लिए संगीतज्ञ में चित को एकाग्र करने की योग्यता उत्पन्न होती है। चित की एकाग्रता से स्मरणशक्ति तीव्र होती है, बुद्धि सुस्थिर होती है जिससे सत्य और असत्य का विवेक उत्पन्न होता है। विवेक से सजीवन सात्विक हो जाता है। सात्विक जीवन के द्वारा मनुष्य में वसुधैव कुटुम्बकम की भावना उत्पन्न होती है जिससे उसका व्यक्तित्व अत्यन्त उज्जवल हो जाता है।[6]

व्यक्तित्व का पूर्ण विकास तभी संभव है जब व्यक्ति के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक व भावनात्मक विकास तीनो का परस्पर संतुलन हो। संगीत का सम्बन्ध यद्यपि तीनों से है, परन्तु प्रमुख रूप से भावनात्मक विकास से है। संगीत के माध्यम से व्यक्ति में साधना शक्ति व संयम पल्लवित होता है।

संगीत में वह शक्ति है जो व्यक्ति के स्वस्थ्य व्यक्तित्व का निर्माण कर सकती है और वह समाज की चुनौतियों का साहस से सामना कर सकता है।[7]

संगीत और इन्सानियत आदमी के दो हाथ है, जो व्यक्तित्व के लिए खुराक तैयार करते हैं। संगीत से अनुशासन, आत्मविश्वास, मेल जोल, प्रयोगात्मक क्षमता, विचारशीलता, स्मरणशीलता आदि का विकास होता है। संगीत सुनने व गाने-बजाने से व्यक्ति में सहजता आती है जिससे व्यक्ति कठिन परिस्थितियों में भी सहज बना रहता है। जैसे एक कलाकार दुगुन, चौगुन, अठगुन आदि की ऊँची नीची लय में भी सहज रहता है। विश्व के महान दार्शनिक प्लेटो ने संगीत के मनोविज्ञान के बारे में भी कहा है कि एक सफल शिक्षक को संगीतज्ञ भी होना चाहिए क्योंकि अन्य सभी विषयों से बढ़कर संगीत ऐसा माध्यम है जो न केवल मानसिकता को प्रशिक्षित करता है अपितु मनोभावों को भी प्रशिक्षित करके उन्हें विशुद्ध स्वरूप प्रदान करता है। जिससे व्यक्तित्व के दुगर्ण दूर हो जाते हैं। अतः एक सफल व्यक्तित्व के लिए संगीत, शरीर के प्राण समान है।[8]

Scanned with OKEN Scanner

संदर्भ :

1. मदन डॉ. पन्ना लाल, संगीत शास्त्र विज्ञान पृष्ठ संख्या-10
2. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षक प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर पृष्ठ संख्या-22
3. सहाय डॉ. चतुर्भुज, योग, फिलासफी और नवीन साधना, पृष्ठ संख्या-18
4. राष्ट्रीय संगोष्ठी - संगीत और योगा फरवरी 11-12 2011 श्री अरविन्द महिला महाविद्यालय, पटना।
5. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षक प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर पृष्ठ संख्या-22
6. राष्ट्रीय संगोष्ठी (दयानन्द गर्ल्स पी.जी.कालेज, कानपुर) संगीत चिकित्सा
   - 4जी Dec 2010 पृष्ठ संख्या-8
7. राष्ट्रीय संगोष्ठी (दयानन्द गर्ल्स पी.जी.कालेज, कानपुर) संगीत चिकित्सा
   - 4जी Dec 2010 पृष्ठ संख्या-30
8. राष्ट्रीय संगोष्ठी (दयानन्द गर्ल्स पी.जी.कालेज, कानपुर) संगीत चिकित्सा
   - 4जी Dec 2010 पृष्ठ संख्या-34

Scanned with OKEN Scanner

भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डप की समीक्षा

अभय शंकर

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।
सुललिताभिनयैः समलङ्कता,
रुचिरभारतसंस्कृतिभूषिता ।
स्मृतिपुराणविचारविभाक्ति,
जयति संस्कृतनाटकमंजुता ।।

नाट्यशास्त्र का परिचय :-

भारतीय नाट्य के इतिहास में नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इसके प्रवक्ता **'ब्रह्मा'** है और इसके प्रयोक्ता **'भरत'** है। इसकी लोक संख्या 6000 है तथा इसमें कुल 36 अध्याय है। किन्तु इसकी कई प्रतियों में अध्यायों की संख्या 37 है। यह ग्रन्थ छन्दोबद्ध है, छन्द प्रायः अनुष्टुप है। कतिपय स्थल गद्यमय भी है।

नाट्यशास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन हैं। देवताओं की प्रार्थना से ब्रह्मा ने चारों वेदों से सामग्री लेकर नाट्यवेद की रचना की और ब्रह्मा के उपदेश से भरत ने अपने राजपुत्रों के साथ नाट्य का प्रयोग किया।

नाट्यशास्त्र के अध्यायों में नाट्यकला का सांगोपांग विस्तृत विवेचन हुआ है। विश्व इतिहास में ऐसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें नाट्यकला पर इतने विस्तार, स्पष्टता एवं सूक्ष्मता से विचार किया गया हो। इसमें नाट्यकला के साथ-साथ नृत्य, गीत, वाद्य, रस, अलंकार, छन्दोविचिति तथा भाषा आदि विविध विषयों का भी विवेचन किया गया है। परवर्ती काव्यशास्त्र, रसशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के आचार्यो के लिये तो यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मार्गदर्शक ग्रन्थ है।

प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डप के प्रकार :-

नाट्यशास्त्र में नाट्यमण्डप का दो प्रकार से भेद किया गया है। पहला आकार-प्रकार की दृष्टि से, दूसरा प्रमाण के अनुसार।

(1) आकार की दृष्टि से नाट्य-मण्डप के तीन प्रकार होते हैं–

विकृष्ट, चतुरस्त्र और त्रयस्त्र।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः।
विकृष्टिश्चतुरस्त्रश्च त्रयस्त्रश्चैव प्रयोक्तृभिः।।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः।
विकृष्टश्चतुरस्त्रश्च त्रयस्त्रश्चैव तु मण्डपः।।

विकृष्ट :- यह वह मण्डप है, जो आयत अर्थात् ऐसे चतुर्भुज के आकार के समान होता है, जिसके आमने-सामने की भुजाएँ समानान्तर एवं तुल्य होती है, तथा प्रत्येक कोण समकोण होता है।

चतुरस्त्र :- यह मण्डप वर्गाकार अर्थात् उस चतुर्भुज के आकार का होता है, जिसकी चारों भुजाएँ तथा कोण तुल्य होते है ।

त्रयस्त्र :- त्रिभुजाकार नाट्यमण्डप, जिसकी तीनों भुजा और कोण तुल्य होते है, त्रयस्त्र कहलाता है-

---

एम.ए. (संस्कृत), दिल्ली विश्वविद्यालय, यू.जी.सी. नेट उत्तीर्ण

Scanned with OKEN Scanner

"त्र्यस्त्रं त्रिकोणं कर्त्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ।।"

(2) प्रमाण की दृष्टि से :- नाट्यमण्डप के तीन भेद किए गए है। **ज्येष्ठ, मध्य और कनीय** *"तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथावरम् ।।"*

इनमें ज्येष्ठ अधिकतम क्षेत्रफल वाला, मध्यम बीच का तथा कनिष्ठ न्यूनतम क्षेत्रफल का मण्डप होता है। इन प्रमाण वाले भेदों का प्रकार वाले भेदों से गुणा करने पर 9 भेद होते हैं। गुणा इसलिए किया जाएगा कि ये ज्येष्ठ, मध्य और कनीय (अवर) उन्हीं विकृष्टादि की ही नाप बताते हैं। ये 9 भेद इस प्रकार है -

विकृष्ट - 1. ज्येष्ठ विकृष्ट 2. मध्यविकृष्ट 3. अवरविकृष्ट

चतुरस्त्र - 1. ज्येष्ठ चतुरस्त्र 2. मध्य चतुरस्त्र 3. अवर चतुरस्त्र

त्रयस्त्र - 1. ज्येष्ठ त्रयस्त्र 2. मध्य त्रयस्त्र 3. अवर त्रयस्त्र

इन्हीं 9 भेदों के आगे चलकर दण्ड और हस्तप्रमाण पर दो-दो और भेद होंगे इस प्रकार नाट्यमण्डप के कुल 18 भेद होते हैं।

मनुष्यों का श्रेष्ठ नाट्यमण्डप और रचना-विधि :- नाट्यमण्डप देवताओं और मनुष्यों के अलग-अलग प्रकार के होते हैं। देवताओं का मण्डप ज्येष्ठ संज्ञक होता है, जो 108 या 432 हाथ लम्बा होता है परन्तु मनुष्यों के लिए यह उपयुक्त नहीं। उनके लिए मध्यमभाग के ही मण्डप उपयुक्त होते है - चाहे वे आयताकार, विकृष्ट, वर्गाकार चतुरस्त्र या त्रिभुजाकार त्रयस्त्र ही क्यों न हो। बड़े मण्डप के कई दोष हैं। विशाल मण्डप में शब्द गूँजते है अथवा शनैः उच्चारित शब्दों की अभिव्यक्ति दूरस्थ लोगों को नहीं होती। अभिनेताओं के जोड़ से बोलने पर स्वर बिगड़ जाते है- **"मण्डपे विप्रकृष्टं तु पाठ्यमुच्चारिस्वरम्। अनभिव्यक्तवर्णत्वाद् विस्वरं वै भृशं व्रजेत्।"** इसके अतिरिक्त जब किसी सात्विक भाव का अभिनय होता है, जिसमें मुख के विविध विकारों का विधान होता है तब वह दूर से दिखाई नहीं देता। क्योंकि प्रेक्षक तथा अभिनेता के बीच बहुत अन्तर पड़ जाता है। अतः मध्य माप का नाट्यमण्डप ही मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ होता है।

रचना विधि :-

नाट्यगृह के निर्माता को सर्वप्रथम भूमि की परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् वास्तुशास्त्र के प्रमाण के अनुसार वास्तु का प्रारंभ करना चाहिए। जो भूमि समतल हो, स्थिर हो, कठोर हो, कृष्णवर्ण की या गौरवर्ण की हो, उसी भूमि पर नाट्यमण्डप बनना चाहिये - **"समा स्थिरा च कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्। भूमिस्तत्रैव कर्त्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।।"** पहले भूमि को साफ करके उसमें हल चलवा देना चाहिए, जिससे उसमें गड़ी हड्डियों, कपालों, कीलों तथा लकड़ियों आदि को अच्छी तरह निकाला जा सके। इस प्रकार भूमि का शोधन करके पुण्य नक्षत्र से युक्त शुभ मुहूर्त्त में कपास, मूज या छाल की बनी शुक्लवर्ण की रस्सी को लेकर भूमि को नापना चाहिए। रस्सी मजबूत हो एवं उसे बड़ी सावधानी से पकड़ा जाय, अन्यथा विच्छेद या हाथ से छूट जाने पर दोष होता है। जो **'स्वामी-प्रयोक्ता के मरण'** या **राष्ट्र-कोप** का सूचक बताया गया है।

सर्वप्रथम विकृष्ट-संज्ञक नाट्यमण्डप का विधान किया गया है। आरम्भ में 64 हाथ सीधा नापकर फिर रस्सी को मोड़कर दो भागों में कर ले। इस द्विधाभूत आधे भाग के भी दो भाग करें। जिनमें से अग्रभाग रंगशीर्ष की रचना के लिए निश्चित करें, तथा बाद वाले भाग को नेपथ्य गृह के लिए रखे। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि नाट्यशास्त्र में हस्तप्रमाण मध्यमण्डप का ही विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यसंज्ञक मण्डपों को भी दण्ड प्रमाण से बनाने पर विशालता एवं तज्जन्य दोष की संभावना रहती है। अतः हस्तप्रमाण से मापित मण्डप

Scanned with OKEN Scanner

ही मनुष्यों के लिए विहित है। वही श्रेष्ठ भी है। इसके बाद 'निवेशन, भित्तिकार्य, मत्त्वारणी, रंगशीर्ष और दारुकर्म किया जाता है।

निवेशन :-

"शुभे नक्षत्रयोगे तु मण्डपस्य निवेशनम्। शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्ग पणवादिभिः।।" नींव देने को 'निवेशन' कहते हैं यह कार्य बड़ी धूम-धाम से होना चाहिए। नींव के समय शंख, दुंदुभी, पणव आदि विविध वाद्यों का निर्घोष करना चाहिए तथा एक भोज का भी आयोजन होना चाहिए।

भित्तिकर्म तथा स्तम्भारोपण :-

नाट्यमण्डप की स्थापना करके भित्तिकर्म प्रारम्भ करना चाहिए। भित्ति रचना होने पर स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए। यह कार्य शुभ नक्षत्र तथा शुभकरण में ही प्रारंभ करना चाहिए। स्तम्भारोपण के बाद अन्त में स्तम्भ के स्थिर होने की स्तुति करनी चाहिए।

यथाऽचलो गिरिर्मेरुहिमवांश्च महाबलः ।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव ।।

मत्त्वारणी :-

नाट्यशास्त्र के अनुसार रंगपीठ के पार्श्व में उसी के प्रमाण के अनुरूप मत्त्वारणी बनानी चाहिए, जो चार स्तम्भों से युक्त हो तथा डेढ़ हाथ ऊँची हो और ऊँचाई में उसी के बराबर रंगमण्डप बनाना चाहिए। रंगपीठ के दोनों पार्श्वो में 8 ग 8 हाथ के वर्गाकार समचतुरस्त भूमि मत्त्वारणी होती है।

रंगशीर्ष एवं रंगपीठ :-

रंगमंच का अगला भाग रंगपीठ कहलाता है। जहाँ पात्रगण अपना अभिनय प्रस्तुत करते हैं और पिछला भाग रंगशीर्ष है। रंगशीर्ष नेपथ्यगृह और रंगपीठ के मध्य का स्थान होता है। रंगपीठ और रंगशीर्ष 8 ग 32 हाथ के होते हैं। शुद्ध दर्पण के समान आकार वाला समतल रंगशीर्ष श्रेष्ठ माना गया है।

दारुकर्म एवं षट्दारुक :-

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यमण्डप में सौन्दर्य लाने की दृष्टि से दारुकर्म का विधान विहित है। इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की कारीगरी तथा हाथी, शेर आदि के चित्र एवं पुलिकाएँ अलंकृत की जाती हैं। सुन्दर फर्श तथा स्तम्भों से सुशोभित होना चाहिए।

नाट्यशास्त्र में काष्ठशिल्प की उह, प्रत्यूह, निर्व्यूह, व्यूह, संपूह एवं समूह आदि छः प्रकार की विधियों का ललित निर्देश है। इन छः काष्ठों को 'षट्दारुक' कहते हैं। इसके बाद भित्तिकर्म आरम्भ करना चाहिए।

भरत ने सभी प्रकार के नाट्यमण्डपों के लिए भित्ति का विधान बताया है। भित्ति में स्वच्छता, सुन्दरता, चित्रमयता होने पर नाट्यमण्डप की शोभा बढ़ती है। इस प्रकार विकृष्ट नाट्यगृह का निर्माण करना चाहिए।

भरत के अनुसार नाट्मण्डपों का स्वरूप :-

(क) विकृष्ट (आयताकार) मध्य नाट्यमण्डप

64 ग 32 का स्वरूप

नेपथ्य	32 ग 16
रंगशीर्ष	32 ग 8
रंगपीठ	16 ग 8
प्रेक्षागृह	32 ग 32 हाथ

नेपथ्य	32 ग 16
रंगशीर्ष	32 ग 8
रंगपीठ	32 ग 8
प्रेक्षागृह	32 ग 32 हाथ
मत्त्वारणी	16 ग 8

Scanned with OKEN Scanner

मत्त्वारणी 16 ग 8
मत्त्वारणी 8 ग 8
मत्त्वारणी 8 ग 8

(ख) चतुरस्त्र नाट्यमण्डप का स्वरूप

32 ग 32
नेपथ्य 32 ग 8
मत्त्वारणी 8 ग 8 रंगमंच 16 ग 8
मत्त्वारणी 8 ग 8
प्रेक्षागृह 32 ग 16

(ग) त्रयस्र नाट्यमण्डप का स्वरूप :-

इसका माप भरत ने नही बताया है। अभिनवगुप्त ने अनुमान किया है कि त्रयस्र नाट्यमण्डप की प्रत्येक भुजा 64 हाथ की या 32 हाथ की होनी चाहिए।

नेपथ्य
रंगपीठ
प्रेक्षागृह

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डप के बारे में अत्यंत सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रेक्षागृह के प्रकार, रचना विधि का सुस्पष्ट वर्णन हमें यहाँ प्राप्त होता है।

Scanned with OKEN Scanner

संत रैदास की वाणियों का सांगीतिक महत्व

सुप्रिया कुमारी

स्वर के द्वारा हीं ईश्वर की आराधना होती है या ईश्वर हीं स्वर तक पहुँचने का साधन है इस बात को ऋषि मुनि जानते थे इसलिए उन्होने स्वरमय मार्ग को सुलभ बनाया। संत लोग समाज के लिए साबुन का काम करते हैं समाज की कुरीतियों, सामाजिक अभिशाप, सामाजिक भेद-भाव, समाज में फैले हुए तमाम अवरोध जो अधोगामिता को श्रय देते हैं, संत जन इन्हीं विकारों को साफ करते हुए उर्ध्वगामिता का सुलभ, सहज एवं उज्जवल मार्ग दिखाते हैं जिनपर चलकर समाज सदगुण की उँचाईयों को छूता है तथा उसी समाज में एक से एक महापुरूष अवत्तीर्ण होते हैं। भारतीय समाज की बनावट एवं बुनावट कुछ इस प्रकार की रही है कि यहाँ षड़विकारों के दल दल में अनेक ऐसे अरविन्द खिले हैं जिसका यह समाज श्रद्धापूर्वक अनुसरण करता आया है। चूँकि मानव मात्र का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति माना गया है इसलिये सांसरिक कार्य करते हुए भी आध्यात्मिक उन्नति पर ध्यान दिया जाता रहा है। जब जब समाज में विसंगतियाँ फैली है तब-तब समता बिखेरने के लिए परमहंस संतो का आगमन हुआ है। इसी कड़ी में संत रैदास का नाम आता है। संत रैदास निर्गुण धारा के कवि थे। अनपढ़ थे किन्तु पूर्ण ज्ञानी थे। वह जानते थे कि स्वर के बिना ईश्वर को पहचानना असंभव है इसलिये उन्होने रागमय भक्ति पद के रसिक गान का मार्ग प्रशस्त किया। "प्रेम को परमात्मा की कुँजी कहते हैं।" प्रेम से ही उसकी प्राप्ति होती है इसलिये संतों ने प्रेम पर जोर दिया हैं। भक्ति और प्रेम के लिये हीं इतने पूजन उपादान हैं। लक्ष्य एक हीं है-प्रेम। संगीत की विशेषता है कि यह तत्क्षण प्रेम उत्पन्न करने में समर्थ हैं।. सद्यः प्रीतिकरो रागः।। अर्थात् जो तुरंत प्रीति उत्पन्न कर दे उसे राग कहते हैं। रागों में स्वरों का आलापन कुछ इस प्रकार होता है कि हृदय की हर एक ग्रंथियाँ सहज हो जाती है। मस्तिष्क सहज हो जाता है जीव तुरंत वह उँचाई छू लेता है जहाँ पर उसका इष्ट विराजमान होता है। इसलिये कहा गया है कि ईश्वर से स्वर सिर्फ एक अक्षर न्यून है। यह एक वैज्ञानिक विधि है। इसलिये हमारे यहाँ वेदों का गायन होता रहा है। साम गायन का अपना-अलग महत्व है।

भक्तों, संतों, कवियों ने इसकी वैज्ञानिकता को अनुभूत किया तथा समाज को ऐसी दिशा दी कि गायन से हीं ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। भक्त रैदास ने इसलिये अपने भजनों को राग में आबद्ध कर जनता के बीच में बाँटा।

स्वर के दो रूप होतें हैं। साकार और निराकार। साकार की दुनियाँ वर्णमाला से जगमग है तथा जिसका फैलाव निरन्तर होता हीं जा रहा है जबकि निराकार की दुनियाँ से संगीत के स्वरों का प्राकट्य हुआ। यह नितांत आंतरिक होता है। इसलिये स्वरों के इन दो रूपों को विद्वानों ने साहित्य एवं संगीत नाम दिया। साकार से साहित्य एवं निराकार से संगीत। दोनों की मंजिल एक है किन्तु मार्ग अलग-अलग। कहा भी गया है कि - संगीतमय साहित्यं सरस्वत्याः स्तनइयमूः। जैसे एक माँ की दो छातियाँ (स्तन) हैं। दोनों में अमृत है ठीक उसी तरह माता सरस्वती के ये दो स्तन हैं। एक संगीत दूसरा

शोधछात्रा, स्नातकोत्तर, संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

साहित्य। दोनों हीं क्रमशः निराकार एवं साकार के द्योतक हैं।

संत रैदास के पद बड़े हीं सहज एवं भावपूर्ण हैं। इन्हें पढ़कर भक्ति का उद्रेक उत्पन्न होता है। ऐसे परमहंस भक्तकवि के बारे में बहुत कुछ अनजान भी है।

संत रैदास निर्गुण धारा के भक्त थे। इनके बारे में आजकल कई किताबें मिलती है। कई ऐसे शोधक हुए जो संपूर्ण भारत वर्ष भ्रमण कर इसके बारे में साक्ष्य जुटायें है जो आजकल के छात्रें के लिये बड़े हीं हितकारी सिद्ध हुए हैं। ऐसे लेखकों में पृथ्वी पाल सिंह लिखित संत रैदास, योगेन्द्र सिंह, लिखित संत रैदास, गोविन्द रजनीश की रैदास रचनावली, मीरा गौतम का गुरू रैदास वाणी एवं महत्व आदि बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। कुछ भविष्य पुराण में भी छिटपुट तथ्य पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त या यूं कहिये कि इनसे पूर्व संत रैदास के बारे में गुरू ग्रंथ साहिब और रैदास की वाणी से जानकारियाँ मिलती हैं।

यह नितांत सत्य है कि ये जाति के चमार थे तथा परंपरागत पेशा से जुड़े थे। कर्मशीलता एवं नाम जप परायणता इनकी विशेषता थी। भक्ति काल में काव्य की दो धारा प्रवाहित हुई–

(1) ज्ञान मार्गी निर्गुण मत एवं

(2) भक्ति मार्गी सगुण मत।

संत रैदास इन दोनों हीं पद्धतियों के उत्तराधिकारी माने गये हैं। गीता का कर्म योग ये अपने व्यवहार से हीं सिखलातें थे। जैसे कबीर ने जुलाहे के कार्य को, सेन ने नापित के कार्य को तथा रैदास ने चर्मकार के कार्य को हीं चुना और इसे आध्यात्मिक बना डाला। संत होने और अपने जीवन काल में हीं प्रतिष्ठापूर्वक प्रसिद्ध होने के बावजूद इन्होंने अपने परंपरागत जीवन का त्याग नहीं किया।

कहा जाता है कि इन्होनें कठौती में गंगा मैया का दर्शन किया था। इसिलिये. कठौती में गंगा का मुहावरा प्रचलित हो गया। किन्तु इनके पीछे नाम जप की निष्ठा काम कर रही थी। गोस्वामी तुलसीदास, समर्थ गुरू रामदास, कबीरदास आदि की तरह इनका नाम जप प्रसिद्ध था। ये सवा लाख नाम जप प्रतिदिन करते थे इसलिये इनके पास अलौकिक शक्तियाँ विराजने लगी थी जिसके वल पर इन्होनें कर्मकाण्डियों एवं पाखंडियों पर कई बार विजय प्राप्त की थी। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि स्वामी रैदास संगीत के मर्मज्ञ थे तभी तो इनके विभिन्न पद विभिन्न रागों पर आधारित हैं इनकी वाणी काव्य नियमों के अनुकूल नहीं हैं। शैली अटपटी है। कथन दो टूक हैं। मर्मस्पर्शी है। छन्द का बन्धन ढ़ीला है। काव्य में फक्कड़पन है। तथ्य में अक्खड़पन है। मिजाज में आला, निराला एवं मतवाला। पूर्ण विश्वासी संत स्वरों के आलोड़न में कितना सहज लगता है इनके पद से साफ झलकता है।

जौं तुम गोपालहिं नहिं गइ हैं।
तौ तुमका सुख में दुख उपजे सुखहिं कहाँ ते पइहौं।
भूल्यो नाम सकल जग डहक्यों, झूठो भेष बनइहौं।।
झूठे ते सांच तबै ट्वै पइहौ, हरि की सरण जब अइहौं।
कनरस बतरस और सर्वरस झूठिहिं मूड़ जोलाइहौं।।
जब लग तेल दिया में बाती फिर पाछे बुझि जइहौं।।
जब तुम राम नाम रंग राते और रंग न सुहैहौं
कह रैदास भजौं रे कृपानिधि प्राण गये पछितैहौं।।

संत रैदास की वाणियों में कुछ रागों के नाम आये हैं जो प्राचीन राग हैं। इनमें, रामकली, गौड़ी, आसावरी, सोरठी, धनाश्री, विलावल, भैरव, तोड़ी, गुंड, जैतश्री, सारंग, कानड़ा, केदार, सूही, माख, बसन्त, मल्हार, गौड़ इत्यादि प्रमुख हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की विशेषता यह है कि इन्हें समयाबद्ध गाया बजाया जाता है। संत परंपरा में प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त में गायन की बड़ी विशेषता है इसलिये इन्होंने राम कली राग चुना जो ब्राह्म मुहूर्त में गेय है। ये अपने कविकर्म में प्रति अचेत नहीं रहे इसलिये आज इनकी पदावली राग की बंदिशों में गूंजती है। संगीतज्ञों के कंठहार बनने के लिये बंदिश के अतिरिक्त सहज सुगम अवबोध आवश्यक है। संत की वाणी इससे ओत प्रोत है।

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल साहित्य का प्रगतिशील काल माना गया है। ये कविगण सामाजिक समरसता को बढ़ाते हुए ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताते थे इसलिये इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत

Scanned with OKEN Scanner

हीं बढ़ी हुई थी। इस काल में जैसे दादूदयाल, नामदेव, पीपा, सेना, बखना, रैदास, हरदास, कबीर, नामवेद, धन्ना और वनवारी दास आदि हैं।

संत कबीर एवं नामवेद उनके अग्रज हीं हैं शेष सभी बाद में हुए। इस कारण इनकी वाणी में कबीर की कठोरता नहीं है। शायद समाज को कबीर के द्वारा फटकार मिल चुकी थी इसलिये इन्हें फटकारने की आवश्यकता नहीं पड़ी। हाँ सही मार्ग दर्शन चलता रहा। पाखंडियों का दर्पदलन होता रहा और इनकी धाक जमती गई। ये सगुण निर्गुण उभय पक्ष के पक्षधर प्रतीत होंते हैं। इनकी दृष्टि में हरि, राम, गोपाल, केशव, वनवारी, कृष्ण, मुरारी आदि में कोई अंतर नहीं। सभी एक हैं। सभी रसमय हैं। सभी संगीत के रसों को प्रकट करते हैं। इसलिये रसभंग न हो तभी आम निवेदन कर पूछते हैं कि उस चिन्मय व्यापक विभु के लिये फूल, फल, दूध आदि कहाँ से लाउँ? कारण कि कुछ भी उनके अनुरूप नहीं। उदाहरणार्थ-

रामहिं पूजा कहाँ चढ़ाउँ।
फल अस फूल अनूप न पाउँ।।
थनहर दूध जु वछ जुढ़ारयों पहुप भमर जलमीन विटारयो।
मलयागिरी बेधियों भवंगा विष अमृत दोउ एके संगा।।
मन हीं पूजा मनहीं धूप मन हीं सेउँ सहज सरूप।।
पूजा अर्चना न जानूं राम तेरी, कहै रैदास कवन गति मेरी।।

संत रैदास की सहजता इतनी गहरी है कि प्रभुप्राप्ति में इन्हें संशय नहीं। सभी को संशय छोड़नें की सलाह देते हैं और यह भी कहते हैं कि भगवान की कृपा के बिना संशय छूटने से रहा।

राम विन संसै गांठ न छूटै।।

इस पंक्ति से भी आत्मा प्रकाश हीं झलकता है।

ऐसे संत के जन्म के बारे में भी उन्हीं का कुछ कथन है। इसी आधार पर इनके बारे में कुछ कहा जाता रहा है।

चौदह सौ तैतीस की माघ सुदी प्रंदास।
दुखियों के कल्याण हित प्रगटे श्री रैदास।।

माघ पूर्णिमा को हीं इनके मतावलम्बी इनकी जयन्ती मनाते हैं, ये क्रांतिधर्मी संत थे। इनकी क्रांतिधर्मिता देखने लायक है।

रविदास इक हीं नूरते, जिमि उपजन्यों संसार।
उँचनीच कित विध मथे, ब्राहमण अरू चमार।।

हिंसा इन्हे पसन्द नहीं किन्तु भाषा में साम्यता है और परहेज भी।

रविदास जीव को मारि कर कैसो मिलहिं खुदाय।
पीर पैगम्बर औलियां कोई न कहैं समुझाय।।

यह उनका इशारा है मुसलमानों की हिंसकता की ओर। संत समता का आदर करते हैं और विषमता को दूर करते हैं इस परिप्रेक्ष्य में इनका एक दोहा प्रसिद्ध है।

पराधीनता पाप है जान लेहरे मीत।
रैदास दास पराधीन को सब हीं समझे हींन।।

इसके लिये उन्होंने कर्म को हीं प्रधान माना है और कहा है -

जन्मजात को छाडि करि करनी जान परधान।।

अपने जन्मस्थान के बारे में उन्होंनें लिखा है-

कासी ढ़िग मांडूर सथाना। शूद्र वरण करत गुजरना।
मांडूर नगर लीन औतार। रैदास शुभ नाम हमारा।।

अपनी जाति एवं पेशा के बारे में वे लिखते हैं-

मेरी जाति विख्यात चमार।।
मेरी जाति कुटबांढला ढ़ोर ढुवंता।
नित हीं बनारसी आस पास।।

इनकी माँ करमावाई तथा पिताजी का नाम राधवदास था। काम परंपरागत जूते बनाने का और लक्ष्य स्वरमय ईश्वर पद। अपने बारे में संतजी कहते हैं-

जाति भी ओछी करम भी ओंधा
ओछा कसब हमारा।
नीचे से प्रभु उँचों कियो हैं
कहे रैदास चमारा।।
जब लग नदी न समुद्र समावै
तब लग बढै हंकारा।

Scanned with OKEN Scanner

सहज स्वीकारोक्ति हीं इनकी विलक्षणता है। इनकी कालातीत वाणी की सहजता अत्यंत सामान्य अवस्था में लोगों से सीधा संवाद देकर ज्ञान, विज्ञान, धर्म की धाराओं को बल प्रदान किया। जीवन यात्रा का स्वाभाविक संदेश जो सबकी समझ में आ जाये। शुद्ध शाकाहारी जीवन पद्धति इतनी सरल कि कठौती में गंगा यानी गंगोत्री की सी पवित्रता।

संत रैदास की शिष्य परंपरा में मीरा का नाम आता है। एक झाला रानी का भी उल्लेख मिलता है। कुछ लोग तो मीरावाई तथा झालारानी दोनों को एक ही मानते हैं। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है एक समर्थ गुरू की शिष्या समर्थ हो गई। भक्त कवियों में अपना अनूठा हस्ताक्षर प्रस्तुत कर गई।

मीरा एकतारा बजाकर पाँव में घुँघरू बांध कर अपने गिरिधर के आग नाचा करती थी। उसकी यहीं भंगिमा उसे स्वरमय ईश्वर की ओर उन्मुख करती है। कहा जाता है कि अहंकार नाचने नहीं देता है। अहंकार विगलन के लिये आत्मविस्मृति आवश्यक है। जब तक आत्माभिमान रहेगा तब तक प्रभु मिलन तो होगा नहीं इसके लिये संगीत हीं सर्वोप्रयोगी साधन है। मुख से गायन, पैर से तत्कार, भाव से प्रभु का सत्कार एवं सामाजिक रूढ़ियों का दुत्कार ये सब बिना गुरू कृपा के संभव नहीं। गुरू कृपा का प्रत्यक्ष उदाहरण मीरा बाई संत रैदास की प्रतिच्छवि तो नहीं। कहाँ ठकुरानी, राजरानी, मीराबाई और कहाँ रविदास। लेकिन असर तो देखिये उस रसमय स्वर के जो सामाजिक वर्जनाओं का उल्लंधन करते हुए सदा एक रस रसिक शिरोमणि भगवान के लिये जीवन में हीं तन्मय हो गई। यही गुरू कृपा है। गुरू प्रसाद है तथा वह उँचाई है जिसे पढ़ने वाले पढ़ सकते हैं छू नहीं सकते। अनुभव कर सकते हैं।

उपलब्ध जीवन-प्रसंगों (दंत कथाओं सहित) एवं रचनाओं से रैदास की सादगी तथा सहज जीवन शैली आडंबरहीन, किन्तु समन्वित और संतुलित विचारधारा, सच्ची भक्ति, निर्गुण और सगुन विचारधारा के प्रति आदर भाव परिलक्षित होता है। संतश्रेष्ठ कबीर ने, संतनि में रविदास संत कहकर उनके महत्व को स्वीकार किया है। सेन, पीपा, धन्ना, दादूदयाल, रज्जब, नाभादास, प्रियादास, अनंतदास और मीराबाई ने उन्हे ससम्मान स्मरण किया है।

संत रैदास की समस्त वाणियों का अवलोकन करने पर ये सुन्दर विचारों एवं जीवन के क्रियाकलापों का समावेश साबित होते हैं। इन वाणियों में पिंगल की समस्त तत्वों की पूर्त्ति तथा विभिन्न छन्दों, लयों का यथास्थान प्रयोग इन्हें निपुण वाग्गेयकार एवं कलावंत प्रमाणित करते हैं। यही कारण है कि इनकी चालीस वाणियों की गुरू ग्रंथ साहिब में दर्ज होने की अधिकारी बनी।

भजन - रैदास
राग -राम कली
स्वर लिपि
ताल एकताल
जब राम नाम कहि गावैगा ।
तब भेद-अभेद समावैगा ।।
जो सुख है या रसके परसे ।
मो सुख का कहि गावैगा ।
गुरू परसाद भई अनुभै मति ।
बिस अमरित सम धावैगा ।
कहै रैदास मेदि आपा -पर ।
तब वा ठौरहि पावैगा ।।

स्थाई

सानि सा रे रे रे रेग रे सा सा नि सारेसा निध़ नि़ सा
जऽ ब रा म ना मऽ क हि गा ऽ वैऽऽगाऽ ज ब
रे रे सारेम म रे सा नि़सा रेग रेसा निध़ नि़ सा
रा म नऽऽ म क हि गाऽ ऽऽ वैऽ गाऽ त ब
मप सां
म म प मे मे प पमे प मेपनि गम रे सानि़
भे द अ भे द स मऽ ऽ वैऽऽ गाऽ त बऽ

अंतरा

1 नि़ध़ नि़ प़ सा - सानि़ रे़ रे़ रे़ सा सा सा
जोऽ सु ख है ऽ याऽ र स के प र से

म म
रे़ रे़ म प प प पम प नि मग रे़ सानि़
सो सु ख का क हि गाऽ ऽ वै गाऽ ऽ जब

2 म म मे प प प ध़ ध़ नि़ नि़ ध़ प
गु रू पर सा द भ ई अ नु भौ म ति

म म मे पप प सां सां मग म रे़ सा नि़
वि ा अ मरि त स म धाऽ वै गा ज ब

3 मे प प ध़ नि़ ध़ प सां निध़ सां सां सां
क हे रै ऽ दा स मे टि आऽ पा प र

रें रें रें गंमं रें़ सां सांनि - रें़सां निध़ नि प मैं मं
त ब वा ठौऽ र हि पाऽ ऽ वैऽ गाऽ ऽ
ऽ

4 रें़ रें़ रें़ रें़ सां रें़ गं गं मं रें़ रें़ सां
से सु ख है ऽ या र स के प र से

सां म म मे प प प सां मग म रे़ सा नि़
सो सु ख का क हि गाऽ ऽऽ वै गा ज बं

संगीत साधना का योगमय स्वरूप

निर्भय शंकर भारद्वाज

मनुष्य का जीवन विशुद्ध असीम सुख की प्राप्ति का सतत प्रयास है। धर्म-ग्रन्थों ने इसे प्रमाणित किया है। सृष्टि के आदि काल से ही साधु तथा सन्तजन इस बात की घोषणा करते चले आ रहे हैं कि परमानन्द की प्राप्ति मनुष्य अपनी आत्मा में ही कर सकता है। अतः आत्म-साक्षात्कार, आत्मबोध अथवा अपरोक्षानुभूति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इससे ही हमारे सारे दुःखों तथा क्लेशों का अन्त होगा। परन्तु किस तरह हम उसे प्राप्त कर सकते है?

आत्म-चैतन्य समाधि अथवा अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति तभी होगी, जब मन शुद्ध तथा सात्त्विक हो जाये। अहंकार के दमन से ही मन की शुद्धता मिल सकती है। अतः अहंता तथा ममता का परित्याग होना चाहिए। इन्द्रियों की शुद्धता तथा नियन्त्रण भी इसमें सन्निहित है। जबतक कि मन सुसंस्कृत एवं नियन्त्रित नहीं होता, तबतक इन्द्रियों का दमन सम्भव नहीं है। अतः यह जटिल चक्र है। ऋषियों ने ठीक ही घोषणा की है कि **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** - मन ही मनुष्य के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है।

ऋषियों ने यह खोज निकाला है कि शब्द में मन को आकृष्ट तथा विलीन करने की शक्ति है। अतः नाद योग के द्वारा मनोलय एवं मनोनाश प्राप्त कर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करना सरल एवं सुगम समझा गया है।

नादयोग :-

संस्कृत के शब्द नाद का अर्थ होता है - **'ध्वनि'** अथवा **'चेतना का प्रवाह'**। नाद सतत्सनातन सृजनात्मक ध्वनि है तथा यह आध्यात्मिक साधना का केन्द्र बिन्दु भी है। ध्वनि की तरंगे स्थूल से सूक्ष्म बाहर से अन्दर, अतीन्द्रिय से कारण जगत् तथा उसके भी परे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तरंगित होती हुई तंत्र का स्वरूप निर्माण करती है।

विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी पदार्थ, यहाँ तक कि ठोस तथा स्थिर दिखने वाले भी निरन्तर गतिशील है। अतएव हर वस्तु तरंगावस्था में है। अतः इन ध्वनि तरंगों को अनुभव करना, उन्हें जानना, उनका पता लगाना, उनका शुद्धिकरण करना तथा उन पर नियन्त्रण स्थापित करना इत्यादि नाद का विषय है। अतः साधक के प्राण, प्रकृति के साथ तादात्मय स्थापित कर लेते हैं जिससे उसके शरीर तथा मन में व्यवस्थित वाद्य-यंत्र की तरह नवीन संगीत मुखरित होता है।

नादयोग का बौद्धिक विश्लेषण नहीं हो सकता क्योंकि इसकी समूची प्रक्रिया आन्तरिक होती है। यह एक जीवन सिद्धान्त है जिससे सृष्टि के सभी आयाम प्राण तथा गति प्राप्त करते है। नादयोग ध्यान की अत्यन्त सरल तकनीक है जिसका अभ्यास कोई भी व्यक्ति कर सकता है। संगीत की साधना करने वाले लोगों के लिए नादयोग विशेष लाभदायक है।

नादानुसंधान लययोग का एक विशेष प्रकार ही है। हठयोग प्रदीपिका (4/66) में कहा गया है -

श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नदानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्।।

एम.ए. यौगिक विज्ञान, शोधार्थी, मिथिला शोध संस्थान, दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

'आदिनाथ भगवान्शिव ने लययोग साधन के सवा करोड़ प्रकारों का वर्णन किया है। उन सभी लययोग प्रकारों में मैं केवल नादानुसंधान को ही मुख्य मानता हूँ।'

पारम्परिक रूपमें नाद को चार समूहों में विभक्त किया गया है।

बैखरी - यह वाह्य वस्तुओं के आघात से उत्पन्न होता है, इसमें सभी बाह्य स्थूल ध्वनियाँ, जो सुनी जा सकती है, शामिल की जाती है। जैसे- संगीत, वार्तालाप, शोरगुल आदि।

मध्यमा - यह फुसफुसाहट की ध्वनि होती है जो बैखरी की अपेक्षा कठिनाई से सुनी जाती है।

पश्यन्ति - इसे मानसिक ध्वनि कहते हैं जो कानों द्वारा नहीं सुनी जा सकती, परन्तु मन में इसका अनुभव कर सकते हैं। यह स्वप्न में सुना गया संगीत, कल्पित वार्तालाप अथवा कोई भी मानसिक ध्वनि हो सकती है।

परानाद - यह भावातीत ध्यान है। यहीं से वास्तविक नाद प्रारम्भ होता है। यह इतना सूक्ष्म होता है। इसमें किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता। इसकी तरंग की लम्बाई अनन्त होती है। **योगिनी हृदय** में बताया गया है -

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला ।
अम्बिका रूपमापन्ना परा वाक्समुदीरिता ।।
इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता ।
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमावागुदीरिता ।।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ।

प्राचीन संगीत का विकास नादयोग साधना के सिद्धांतों पर हुआ था। नादयोग के पाँच आयाम होते हैं - भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अतिमानसिक तथा अतीन्द्रिय। प्रत्येक आयाम का एक अपना तरंग स्तर होता है। इसे जानने - समझने की युक्ति भी अलग-अलग होती है। जैसे-जैसे मन शुद्ध तथा स्पष्ट होता जाता है, उसकी बोध क्षमता भी सूक्ष्म होने लगती है।

नादयोग की तकनीक :

भ्रामरी प्राणायाम :- भ्रमर का अर्थ एक प्रकार की मक्खी होता है। भ्रामरी प्राणायाम में भौंरे के गुंजन की तरह आवाज होती है जो साधक के लिए भीतरी नाद सुनने में सहायक सिद्ध होती है।

अपने आंतरिक व्यक्तित्व को जानने की यह सहज परन्तु बड़ी सशक्त विधि है। इसका अभ्यास आपको सीधे ध्यान की अवस्था में ले जाता है। यदि प्रारंभ में आप कोई ध्वनि न पकड़ पायें तो निराश न होवें। कुछ समय बाद आप अवश्य सफल होंगे। आपको सुनाई पड़ने वाली ध्वनियाँ, ढोलक, शंख, तुरही, झींगुर, घंटी, जलप्रपात, वंशी, वीणा, पक्षी आदि की हो सकती है।

नाद श्रवण के क्रम में भी दस प्रकार के नाद क्रमानुसार सुनायी पड़ते हैं -

प्रथम ध्वनि भौंरे के गुंजार और कलकण्ठी नारियों के गीत के समान सुनायी पड़ती है, दूसरी ध्वनि बांसुरी के स्वर और कांस्यपात्र की ध्वनि के समान सुनायी देती है। फिर क्रम से घन्टानाद, मेघगर्जन, समुद्रगर्जन की ध्वनि आदि सुनायी पड़ती है।

दस ध्वनियों का दूसरा प्रकार इस प्रकार सुनने में आता है - प्रथम् चिण् शब्द, द्वितीय चिणचिण शब्द तृतीय चिरचिर शब्द, चतुर्थ घरघराहट का शब्द, पाँचवाँ इससे कुछ ऊँचा घर्घर शब्द, छठा मृदङ्ग की ध्वनि, सपतम सूक्ष्मनाद, अष्टम वंशी के स्वर, नवम मधुर ध्वनि और दशम नगाड़े का-सा शब्द सुनायी देता है।

प्रयोगसार में नाद सिद्धि के पूर्व की दस अवस्था इस प्रकार बतायी गयी है -

1. कम्प 2. रोमोदगम 3. आनन्द 4. विमलता 5. स्थिरता 6. स्फूर्ति- अंगो में लाघव 7. प्रकाश 8. वैदुष्य, विद्वता - सर्वज्ञता 9. अद्वैतभाव- द्वैतभाव का मिटना 10. आत्मसाक्षात्कार

कीर्त्तन तथा संगीत :

संगीत तथा कीर्तन भावनाओं, बुद्धि तथा चेतना में सामंजस्य स्थापित करने का साधन है। भावनाओं की लय के साथ संगीत में उतार-चढाव आता है। कीर्तन विशिष्ट प्रकार के कंपनों को उत्पन्न करता है जो मन के अवरोधों तथा संचित तनाव को दूर करता है।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत तथा कीर्तन अपने आप में अध्ययन के विशाल क्षेत्र हैं। इनसे लाखों लोगों को उत्साह तथा प्रेरणा मिलती है। संगीत तथा कीर्तन दोनों का स्रोत नाद ही है।

त्यागराज "संगीत शास्त्र ज्ञानमु" में कहते हैं। "संगीत शास्त्र के ज्ञान से आप सारूप्य अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। क्यों ? क्योंकि "सारे शब्द ऊँ से ही निकले हैं। ओंकार सारे वेदों, आगमों, शास्त्रों तथा पुराणों का सार तत्व है। ओंकार आपके सारे दुःखों को दूर कर नित्य सुख प्रदान करेगा।

संगीत केवल स्नायु - उत्तेजन मात्र ही नहीं है। यह तो योग है। श्री त्यागराज अपनी **'श्री पप्रिय'** में लिखते हैं : "सप्त स्वरों का संगीत उन महान तपस्वियों के लिए खजाना है जिन्होंने तापत्रय का शमन कर लिया है।"

योग साधना के दो प्रयोजन होते हैं - सिद्धियाँ प्राप्त करना और मोक्ष प्राप्त करना। नाद साधना से सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही है। योगी इसी जन्म में जीवन मुक्त की अवस्था भी प्राप्त कर लेता है।

अतः हम निष्कर्ष पर पहुँचते है कि संगीत साधना भी योग ही है। संत कबीर ने इसकी पुष्टि निम्न बातों से की है।

"नाद भीतर होता है। वह बिना वाद्य का संगीत है जो हमारे शरीर में विद्यमान है। वह हमारे बाहर तथा भीतर व्याप्त है। यह नाद आपको माया से दूर ले जा सकता है।"- **कबीर**

संदर्भ :

1. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, ईश्वर दर्शन
2. शिवानन्द श्री स्वामी, साधना
3. हठयोग प्रदीपिका - चौखम्बा प्रकाशन
4. कल्याण योगतत्वाङ्क - गीताप्रेस

Scanned with OKEN Scanner

नाटक का अभ्युदय और महत्त्व

डॉ. नरेन्द्र नाथ झा

नाटक सम्पूर्ण साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। नाटकों ने इस साहित्य को वह महत्त्व प्रदान किया है जिससे इसकी कीर्ति- कौमुदी संसार भर में चमकने लगी है। जिस ग्रन्थ ने भारतीय साहित्य-सौन्दर्य के कोमल कल्पना तथा मनोहर रस परिपाक को संसार के मनीषियों के सामने अभिव्यक्त किया वह महाकवि कालिदास द्वारा रचित नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' ही था।

काव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा सदा अधिक रही है। काव्य के आनन्द से वंचित रहने वाले भी नाटक का मनोहर अभिनय देखकर असीम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इसकी खोज में कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है[1]

काव्य श्रवण मात्र से हृदय को आकृष्ट करता है तथा अपना प्रभाव जमाता है, परंतु नाटक नेत्र मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। किसी वस्तु को देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा कहीं अधिक होता हीं है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ को समझना आवश्यक है, नाटक की समता चित्र से की गई है।

सन्दर्भेशु दशरूपकं श्रेयः तद्विचित्रं चित्रपटवद विशेष साकल्यात्।।[2]

जिस प्रकार चित्र भिन्न-भिन्न रंगों के समिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्र में रस का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक की वेश-भूषा, नेपथ्य, साजसज्जा आदि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालता है तथा उसके हृदय में आनन्द का उदय कराता है। संस्कृत के प्रसिद्ध अलंकारिक वामन ने इसलिए काव्यों में **दशरूपक** को विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

संदर्भेशु दशरूपकं श्रेयः।[3]

नाटक का उद्येश्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भरत ने नाट्य को **सार्ववर्णिक** कहा है, क्योंकि अन्य वेद केवल द्विज के लिए उपयोगी तथा उपादेय होते हैं। परंतु नाटक का उपयोग सभी वर्णों के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्द का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव किसी एक ही प्रकार के अभिरूचि वाले लोग के ऊपर नहीं होता, यह सार्वजनिक मनोरंजन होने के कारण समाज के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक का विषय भी सीमित नहीं होता, तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्त्तन इसमें रहता है।

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटकं भवानुकीर्त्तनम्।[4]

यह शक्तिहीनों के हृदय में शक्ति का संचार करता है। शूरवीरों के हृदय में उत्साह बढ़ाता है, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करता है और विद्वानों में विद्वता का उत्कर्ष करता है। नाटक लोकवृत्ति का अनुकरण करता है।

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकव त्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।।[5]

इस विशाल विश्व के पट पर सुख-दुःख की ओर जो प्रवृतियाँ अपना खेल दिखाया करती है तथा मानव जीवन को सुखमय दुःखमय बनाती है,' उन सबका चित्रण नाटक का अपना विशिष्ट उद्येश्य है। इसीलिए भरतमुनि ने कहा है कि कोई भी ज्ञान,

डी. लिट्, गवेषक विश्वविद्यालय, मैथिली-विभाग, ल. ना. मि. विश्ववि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

शिल्प, विद्या, योग अथवा कर्म ऐसा नहीं है जो इस नाट्य में दिखाई नहीं पड़ता।

न तद् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।[6]

कालिदास ने भी भिन्न रूचि वाले लोगों के लिए नाटकों को एक सामान्य मनोरंजन का साधन बतलाया। दृश्य काव्य के लिए रूपक शब्द का प्रयोग किया गया है। रूपक दस प्रकार का होता है जिसका महत्त्वपूर्ण प्रकार नाटक माना जाता है। नाटक के अतिरिक्त रूपक के निम्न भेद हैं -

(1) प्रकरण (2) भाण (3) प्रहसन (4) डिम (5) व्यायोग (6) समवकार (7) वीथि (8) अंक (9) इहाम ग।[7]

रामायण और महाभारत के युग में इस कोमल कला की ओर भारतीयों का ध्यान था, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है। रामायण में शैलुश नट तथा नर्त्तक का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया गया है। बाल्मीकि का कहना है कि जिस जन पद में राजा नहीं रहता उसमें कहीं नट और नर्त्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते।

ना राजके जनपदे प्रहृश्ट नट-नर्त्तकाः।[8]

अमरकोष के अनुसार इसका प्रयोग स्त्री वेशधारी नर्त्तक पुरूष के लिए किया जाता था जिससे स्पष्ट है कि पुरूष-स्त्रियों का वेश-भूषा सजाकर नाचते तथा अभिनय करते थे ।[9]

महाभारत में भी नट-नर्त्तक, गायक, सूत्रधार आदि का निर्देश मिलता है।

आनर्ताश्च तथा सर्वे नट नर्तक गायिकाः ।[10]

पाणिनि के **"अष्टाध्यायी"** में शिलालि तथा कृशाष्व के द्वारा रचित नट सूत्रों का उल्लेख किया गया है -

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयो ।[11]

कामसूत्र में वात्स्यायन ने भी नागरिक के मनोरंजन का वर्णन करते समय पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मंदिर में उत्सव के होने तथा उस समय वाहर से आये हुए नटों के द्वारा अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है।

पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञावेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।
कुषीलावाष्चागन्तवः प्रेक्षणमेषां दद्युः।।[12]

अतः उपर्युक्त विवेचनों से पता चलता है कि वैदिककाल से लेकर विक्रम के समय तक नाटकों का प्रचलन इन देशों में था। नट-नटों की शिक्षा के लिए भी ग्रन्थ रचे गये थे। विक्रम के समय में हमारे आद्य नाटककार कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से नाटकों की रचना और उनके प्रदर्शन की प्रथा अविच्छिन्न रूप से इस भारतवर्ष में चली आ रही है। नाट्यकला भारत की अपनी सम्पत्ति है। इसमें किसी देश का योगदान नहीं है।

सन्दर्भ :

1. उपाध्याय आचार्य बलेदव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. - 464
2. वाजस्नेयी संहिता - 30.4
3. उपाध्याय आचार्य बलेदव, संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. - 467
4. Dr. Ridgeway – Drama and dramatic dance of nun European Races.
5. Theory of vegitation Spirite. Keith.Sanskrit drama PP.15-48.
6. नाट्य शास्त्र - भरतमुनि, 1.17
7. उपाध्याय आचार्य बलेदव, संस्कृत साहित्य का इतिहास
8. वाल्मीकि रामायण-वाल्मीकि-2.67.15 सं. सा. 30
9. सिंह अमर अमरकोष, (नाटक वर्ग) ।
10. महाभारत - वेदव्यास - वनपर्व वन 15 13
11. महर्षि पाणिनि, अष्टाध्यायी, 4 3 110
12. कामसूत्र - वात्स्यायण, (द्वितीय शतक) ।

Scanned with OKEN Scanner

उपशास्त्रीय संगीत पर काशी की लोक गायन शैलियों का प्रभाव

कुमारी रागिनी सरना

भारतीय वांग्मय में किसी भी विधा पर लोक शैलियों का प्रभाव सदैव से दृष्टिगत होता रहा है। सदियों से शुद्ध शास्त्रीय विधाओं के समानान्तर लोक शैलियों का क्रमिक विकास भी होता रहा है। प्रकृत एवं परिष्कृत ये दो धाराएँ सदैव से समानान्तर प्रवाहित हो रहीं हैं। प्रकृत अर्थात् प्राकृतिक जो स्वयं भू हो जैसे लोक संगीत एवं परिष्कृत अर्थात् जिसका परिष्कार किया गया हो जैसे शास्त्रीय संगीत इन दोनों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहा है और दोनों ही एक दूसरें से प्रभावित होते रहे हैं। हमारे शास्त्रीय संगीत के मनीषियों ने भी इस प्रभाव को पूर्णरूपेण अनुभव किया और लोक संगीत से उद्भूत शास्त्रीय ढंग से गायी जाने वाली विभिन्न गायन-शैलियों को उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत, रखा। उपशास्त्रीय संगीत की विभिन्न विधाओं में ठुमरी, दादरा, टप्पा, कजरी, झूला, चैती, बारहमासा इत्यादि आते है। जो अपने स्व-स्व गुणों के कारण एक दूसरे से अलग और विशिष्ट रूप धारण किये हुए परिलक्षित होते हैं। इनमें से ठुमरी विधा शास्त्रीय गायन विधाओं से अधिक निकटस्थ प्रतीत होती है। अन्य सभी शैलियों का उद्गम स्थल विभिन्न प्रांत एवं क्षेत्र के लोकगीत हैं। उत्तर प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों की लोक गायन शैलियों का शास्त्रीय संगीत पर बहुत गहन एवं गहरा प्रभाव पड़ा। जिनमें ब्रज अवधी और विशेष रूप से काशी के लोक गीतों यथा- चैती, कजरी, झूला, छपरहिया, निर्गुण, देवी-गीत आदि का प्रभाव अधिक है। प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य इन सभी प्रभावों का एक विहंगम अवलोकन है।

विभिन्न उपशास्त्रीय विधाओं के स्वभाव पर लोक-गायन शैलियों का प्रभाव–

(1) ठुमरी- ठुमरी गायन शैली पर लोक-गायन का प्रभाव सीमित है। क्योंकि रागाधारित होने के कारण रागात्मकता के प्रति आग्रह को अनुभव किया जा सकता है, परन्तु भाषागत रूप से लोकप्रभाव अस्वीकार है। उदाहरण के रूप में राग देस की प्रसिद्ध ठुमरी देखें- ''सैंया बुलावे आधी रात, नदिया बैरी भई।'' भैरवी राग की प्रसिद्ध ठुमरी है- ''फुलगेंदवा ना मारो लगत करेजवा में चोट''। राग खमाज में बोल बाँट की ठुमरी- ''हटो जावो रे ना बोलो कान्हा, मोरी बहियाँ जनि छुवो'' इत्यादि।

(2) दादरा- परपंरागत रूप से लोक गायकों द्वारा गायी जाने वाली गायन शैली दादरा उपशास्त्रीय संगीत के बहुप्रचलित विधा दादरा की जनक है। यह दादरा ताल में गायी जाती है। कुछ उदाहरण-

1. भारतेन्दु हरिश्चंद्र जो काशी के सुविख्यात कवि रहें है उनके द्वारा रचित राग भैरवी का प्रसिद्ध दादरा है- ''नयन की मत मारो तलवरिया''।
2. कहनवा मानो ओ दिलजानी
3. राग-खमाज का प्रसिद्ध बनारसी का दादरा है- ''डगर बिच कैसे चलूँ मग रोके कन्हैया इत्यादि।

शोध-छात्रा (एस.आर.एफ.), गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

(3) चैती- काशी के लोक संगीत में चैती, चैता और घाटो का लोकाभिरुचिनुसार शीर्ष स्थान है। यह विधा मुख्य रूप से चैत्र मास में गायी जाती है। यह पूर्णरूपेण एक लोक विधा है जिसे शास्त्रीय ढंग से गाकर उपशास्त्रीय संगीत में रखा गया। चैती की एक निश्चित धुन होती है परन्तु जब उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत इसकी बढ़त अर्थात् विस्तार करते है तो राग पहाड़ी जैसे स्वरों में करते हैं। लोक गायन की चैती की तुलना में उपशास्त्रीय में इसकी लय विलम्बित करके गाते हैं। यह अधिकतर दीपचन्दी या चांचर ताल में गायी जाती है। कुछ चैती कलिंगड़ा, जोगिया और भीम-पलासी रागों में भी मिलती है जिनकी बढ़त रागानुरूप की जाती है। चैती में अन्त में रामा या हो रामा की टेक गायी जाती है। कुछ चैती के उदाहरण-

1. एही ठैंया मोतिया हेराय गइले हो रामा कहवाँ में ढूँढू।

2. सारी-सारी रतियाँ जगावे हो रामा।

3. पिया मिलन हम जाइब हो रामा (राग-भीमपलासी)

(4) कजरी- वर्षाकालीन ऋतु गीत कजरी के अनेक रूप हैं जिसमें से काशी एवं मिर्जापुर की कजरी प्रमुख है। यह निर्विवाद तथ्य हैं कि कजरी मुख्य रूप से लोकसंगीत से उपशास्त्रीय संगीत में ग्रहण की गयी है। मिर्जापुरी कजरी की तुलना में बनारस की कजरी पर शास्त्रीय संगीत का प्रभाव अधिक दृष्टव्य होता है। उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत गायी जाने वाली कजरी की बढ़त भी रागानुरूप की जाती है। बनारसी कजरी का उदाहरण-

(क) हमरे साँवरिया नहीं आये सजनी छाई घटा घनघोर

(ख) बैठ सोचे बृजबाम, सूनो लागो मेरो धाम।

(ग) सावन झर लागी धीरे-धीरे इत्यादि।

लोक में गायी जाने वाली प्रमुख कजरी है-

(1) कैसे खेले जइबू सावन में कजरिया।

(2) पिया मेंहदी लिआई दा मोतीझील से।

मिर्जापुर कजरी का एक उदाहरण- रिमझिम परेला फुहार रे बदरिया घेरि अइले ननदी

(5) झूला- वर्षा ऋतु में गायी जाने वाली झूला नामक लोक गायन शैली लोक संगीत की अति प्रचलित विधा है। इसे भी उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत गाया जाता है। इसमें वर्षा ऋतु का तथा राधा-कृष्ण के झूला झूलने का वर्णन होता है। उदाहरण-

1. झूला धीरे से झुलावों बनवारी अरे साँवरिया।

2. झूलनवाँ झूले सखी सिया रघुवीर

(6) होली या होरी- उत्तर प्रदेश का प्रमुख उत्सव होली जो फागुन के महीने में मनाया जाता है, उसमें होली या होरी गाने का प्रचलन है। यह ठुमरी अंग से भी गायी जाती है और लोक संगीत के प्रकार से भी। ठुमरी अंग से गायी जाने वाली होली में लोक भाषा होती है परन्तु उसकी बढ़त ठुमरी के अनुरूप रागाधारित, स्वराधारित होती है। उदाहरण स्वरूप-

1. राग पीलू पर आधारित ठुमरी- होरी खेलन आये तो खेलों लला गारी ना देहों

2. कून तरह से तुम खेलत होरी।

3. उड़त अबीर गुलाल- (राग काफी पर आधारित)

काशी की अन्य प्रसिद्ध होली है-

1. होली खेलत रघुबीरा अवध में

इसी से मिलती जुलती अन्य होली है-

2. खेलत प्यारी संग होरी रे विहँसि करत झकझोरी।

अलग-अलग तालों में भी होली मिलती है जैसे दीपचंदी या चाँचर ताल में **आजु सदाशिव खेलत होरी।** दादरा ताल में- **मोपे डारो ना रंग गिरधारी** इत्यादि।

इनके अतिरिक्त बारहमासा, पूर्वी इत्यादि कई अनेक लोक संगीत की प्रचलित शैलियों को उपशस्त्रीय संगीत के अन्तर्गत गाया जाता है। ये सभी विधाएँ हमारे काशी की अमूल्य थाती हैं, धरोहर हैं। अतः इनको उचित सम्मान देकर इनका संरक्षण एवं संवर्धन करना हमारा तथा अन्य सभी लोगों का परम् कर्त्तव्य है।

संदर्भ :

1. शुक्ल, शत्रुघ्न, ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ
2. जैन, शान्ति, चैती
3. बनर्जी, उषा, स्वर स्पंदन

Scanned with OKEN Scanner

हवेली संगीत की परम्परा में राग

ज्ञानेन्द्र कुमार मिश्र

पुष्टिमार्गीय कृष्ण मंदिरों को हवेली संज्ञा से संबोधित किया जाता है। कृष्ण संम्पूर्ण विश्व का स्वामी है वह चराचर में व्याप्त हैं पूरे जगत का कर्ता है ऐसा समूचे विश्व का राजा कही झोपडे में रह सकता है वह तो हवेली में ही रहेगा अतः पुष्टिमार्ग के कृष्ण मंदिर हवेलियों जैसे विशाल एवं सुंदर होते है, हवेली में सारी आराधना शास्त्रीय संगीत द्वारा और विशेष रूप से ध्रुपद धमार इन गीत विधाओ सें हुआ करती है। अतः इस संगीत को हवेली संगीत कहा जाता है।

नवधा भक्ति द्वारा आराधना की उपासना के साथ साथ अपने स्व को समर्पित करके आत्मविस्मृत होकर आराध्य से तादात्म्य स्थापित करना और उसे रिझाना भक्त गायको के जीवन का परम ध्येय रहा उसी तन्मयता का दूसरा नाम हवेली संगीत है।

पुष्टिमार्ग के मतानुसार भक्त एवं ईश्वर के बीच कोई फर्क नहीं होता। इस भावना में वात्सल्य, लाड प्यार अपने सर्वस्व का त्याग आदि बातों का बहुत महत्व होता है। यही भावना पुष्टिमार्गीय भक्तजन अत्यधिक मानते हैं। पुष्टिमार्गीय मंदिरों में बालक रूप में कृष्ण को पूजा जाता हैं और पूजाविधि शास्त्रीय संगीत के द्वारा सम्पन्न होते हैं। सबेरे बालकृष्ण के उठने से लेकर रात्रि की निद्रा तक के सब विधि संगीत के द्वारा किए जाते हैं। जिन्हे नित्य लीला कहा जाता है। मंगला, श्रृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, आरती, एवं शयन इस प्रकार से नित्यलीला का क्रम होता है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने संगीत के द्वारा अष्टयाम कीर्तन का आरम्भ किया ।उनके पुत्र श्री विटठल दास जी ने इस अष्टयाम कीर्तन का स्वरूप अधिक व्यवस्थित बनाया। अष्टयाम कीर्तन के सभी गीत अष्टछाप कवियो की रचनाएं है।

अष्टयाम कीर्तन की लिखित पदावली बनाई गई है। इन्हीं पदों द्वारा प्रतिदिन अराधना होती है। कीर्तन के सब गीत समयानुसार उचित रागों में गाए जाते है। ये सभी गीत ध्रुपद, धमार की रचना स्थाई, अंतरे वाली या स्थाई, अंतरा, संचारी और आभोग वाली दोनो तरह की रचित हैं। धमार के बारे में सामान्य रूप से यह धारणा है कि इन गीतो में केवल होली से संबंधित वर्णन ही होता है किन्तु हवेली संगीत में धमार को उत्सव या आनन्द का प्रतीकरूप गीत माना जाता है। ध्रुपद धमार के अलावा और भी विभिन्न प्रकार के गीत गाए जाते हैं।

इन पुष्टिमार्गी मंदिरों में मुख्य रूप से ब्रज भाषा से गीतों की रचना होती है। हवेली संगीत मुख्यतया राग संगीत है। आज के प्रायः सभी प्रचलित रागों में हवेली संगीत के गीत गाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त मालव, मारू, पंचम, सारंगना, सामंत सारंग ऐसे अप्रचलित रागों में भी हवेली संगीत के गीत पाए जाते हैं। गीत के भावों को बोल अंग से विकसित करना हवेली संगीत की विशेषता है।

इसे गाने वाले सभी भक्त गायक आशुकवि थे। वे तत्काल पद रचकर समय, ऋतु एवं त्योहारानुसार रागों में उन्हे निबद्ध करके गाते थे जैसे प्रातः मंगला में ललित, विभास, श्रृंगार में बिलावल, रामकली, ग्वाल के समय बिलावल, आसावरी उत्थापन में धनाश्री, भीमपलासी, संध्याभोग में गौरी, नट संध्या आरती में पूर्वी, श्री, तथा शयन के समय बिहाग, यमन, मालव व केदार जैसे रागों का गायन कर इष्ट

शोध-छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, का. हि. वि. वि. वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

को रिझाते थे। जिसका उल्लेख श्रीनाथ की वार्ता श्रीहितसुधाकर में हैं। इसके साथ ही मंन्दिरों के कीर्तन गान में ऋतुराग सिद्धान्त का पालन किया जाता है। जैसे फाल्गुन मास की होरी के पदों को काफी राग में बसन्त में चैतमास के हिंडोलाओं के समय बसन्त व हिंडोल व वर्षा ऋतु में प्रायः मल्हारें शुरू हों जातीं हैं। वहां ऋतुओं के अनुसार रागों का विधान भी है। यह संगीत नित्य दैनिक एवं वार्षिक ठाकुर सेवा के अवसर पर तदनुसार समय और ऋतु की रागों में निबद्ध होता है। जैसे- फाल्गुन में होलिकोत्सव पर सारंग एवं काफी रागों में रसिया ढफ के साथ गाए जाते हैं। अधिकतर चन्द्रसखि के पद इस समय गाये जाते हैं। जैसे-**''ढफ बाजें रे नंन्द बाबा घर, ढफ बाजे रे।''** जयदेव की अष्टपदी का एक पद बसन्त पंचमी से ही गाने का प्रचलन है जैसे - **''विहरती सत्संगे हरिरिह''** किसी भी बधाई के अवसर पर आसावरी और धनाश्री रागों में निबद्ध गान किया जाता है। ''हटरी'' पर कान्हडा का महत्व है, जो दीपावली पर गाए जाते हैं। कुंवारी कन्याए सांझी पूजन एवं अन्नकूट आदि के पद गाती हैं।

ध्रुवपद की शास्त्रीयता से हटकर यह सहज संगीत की कोटि में आता हैं। यहॉ पद के बोलों की भावानुसार बढत होती है। ठाकुरजी के श्रृंगार में यदि समय रह गया तो गायक बोल तानें या लयकारियॉ आदि लेने लगते है, कभी-कभी हल्की तानें एवं मुर्कियां भी सुनने को मिल जाती है। यहॉ विशुद्ध भारतीय रागों का प्रचलन है यहॉ भैरव, शुद्ध सारंग, सावंत, सुघरई, सोरठ, नट आदि रागों का भी प्रचलन एवं महत्व है। यहॉ तालों में आड़ा चौताल, चौताल, सूलताल, झूमरा, चर्चरी, दीपचन्दी, धमार, रूपक, कहरवा, तीनताल आदि का प्रचलन है। वल्लभ संप्रदाय में विलम्बित लय में पद गायन का विधान है।

इस संप्रदाय में धमार-गायन भी उत्कृष्ट होता है। प्राचीन वार्ता साहित्य में गोविन्द स्वामी के उत्कृष्ट ध्रुवपद व धमार गायन का उल्लेख है। फागुन मास में धमार अथवा त्रिवट में बद्ध पदों का गायन अन्त में लग्गी के रूप में चालू दीपचन्दी अथवा कहरवा में परिवर्तित हो जाता है। हवेली संगीत में विष्णुपद एवं ध्रुवपद- धमार दोनों है

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि अष्टछापी कीर्तनकारों के गायन में गीत व राग का सुन्दर सामंजस्य, ताल नियम, लयसौन्दर्य, गमक व मींड की प्रचुरता के साथ दमदार सधी एवं मधुर आवाज के साथ- साथ प्रचलित एवं अप्रचलित रागों को शास्त्रीय रूप से प्रस्तुतीकरण का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

Scanned with OKEN Scanner

कोशी क्षेत्र की संगीत परम्परा में गायक मांगन

गिरिधर कुमार श्रीवास्तव 'पुटीष'

भारत के इतिहास में मिथिलांचल कोशी-क्षेत्र की संगीत परम्परा में 19वीं सदी के उतरार्द्ध का समय अत्यंत महत्वपूर्ण था। भारत के क्षितिज पर कई महान् पुरुषों का आविर्भाव हुआ था। संगीत के क्षेत्र में हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के सृजनकर्ता पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे (10 अगस्त, 1860-1936) एवं पंडित विष्णु दिगम्बर पलुष्कर जी (1872, 21, अगस्त1931) को संगीत विद्या के क्षेत्र में दिये गये योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। एक ने संगीत के बिखरे मोतियों को चुन-चुनकर नवीन संगीत पद्धति का निर्माण किया तो दूसरे ने संगीत के पद गीतों से असभ्य शब्दों को हटाकर सभ्य पदों की रचना कर हिन्दुस्तानी संगीत में नव-प्राण फूँका। वर्ष एवं तिथि के अनुसार सन् 1860 ई. में भातखण्डे जी का जन्म, एवं सन् 1872 ई. में पलुष्कर जी का जन्म और कोशी क्षेत्र के चतुर्मुखी स्वरसिद्ध गायक मांगन खब्बास का जन्म 1891 ई. है। जन्म के तिथियों के आधार पर ऐसा माना जा सकता है कि संगीत के क्रान्ति काल में संगीत पद्धति के सृजनकर्ताओं की भांति कोशी क्षेत्र के स्वरसिद्ध गायक मांगन खबास अपने आपकों संगीत साधना में पिरोकर कठिन तपस्या कर भारतीय संगीत श्रृंखला में मिथिलांचल कोशी-क्षेत्र की संगीत परम्परा को स्वतंत्र घराना की श्रेणी में लाकर खड़ा किया था। संगीत की दुनिया के बे-ताज बादशाह पं. मांगन ने कोशी की धरती पर जन्म लेकर कोशीपुत्र मांगन खब्बास के संगीत सृजन एवं विकास में पंचगछिया डयोढ़ि के **राय बहादुर लक्ष्मी नारायण सिंह,** और **बाबू ब्रह्मनारायण सिंह** के योगदान को कभी भुलाया नही जा सकता है। गायक मांगन को एक तरफ शास्त्रीय संगीत विद्या के गूढ़ अर्जित करने में पंचगछिया के राय बहादुर लक्ष्मी नारायण सिंह जी के द्वारा एवं क्षेत्रीय संगीत परम्परा के गीत-संगीत में सिद्धहस्त दिलाने में बाबू ब्रह्मनारायण सिंह जी जैसे संगीत मर्मज्ञ कभी पीछे नही रहे। पंचगछिया के दोनों महारथियों नें जौहरी की तरह गायक मांगन को तरास कर हीरा बनाया था। परिणामस्वरुप संगीत के क्षेत्र में गायक मांगन अपने जमाने में भारत हीं नही विदेशों में संगीत कला के माध्यम से शोहरत प्राप्त कर कोशी क्षेत्र की विकसित संगीत परम्परा को भारतीय संगीत परम्परा के मानचित्र पर लाकर स्थापित किया था।[1]

कोशी के प्रमुख गायक मांगन खबास के परिजन कर्म से खबास थे। इनके दादाजी सर्वजीत कामति, एवं पिता शंकर कामति थे। बाल्यावस्था से मांगन में अदभुत् प्रतिभा एवं ईश्वरीय शक्ति थी। संगीत के प्रति झूकाव जन्म-काल से ही था। वे समकालीन संगीत को सिर्फ सुनकर देखकर हु-ब-हु स्वर ताल में गाने की अदभुत क्षमता विद्यमान थी। इनकी गायकी की जो खासियत थी असल में वही कोशी संगीत घराना की शैली विशेषता है। इनकी गायकी में ख्याल एवं ध्रुवपद दोनों अंगों की स्पष्ट छाप थी। राग गायकी के क्रम में स्वरों की अवतारणा, गंभीर आलाप, भिन्न रसयुक्त भाव अभिव्यंजना जो हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के नियम सिद्धान्त पर कसी हुई थी। इनकी गायकी के बोल-आलाप, बहलावे,

शोधकर्ता, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

सपाट-तान, वक्रतान, एवं गमक की तानें तथा बंदिशों के शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने के तरीकों में नाद् ध्वनि का प्रयोग होता था। मांगन की गायकी शैली में भारत के सभी प्रसिद्ध संगीत घरानों की विशेषता समाहित थी। इसके बावजूद उनकी अपनी मूल शैली का अंदाज अलग थी जो स्थापित संगीत घरानों से स्पष्ट हटकर कोशी संगीत घराना का स्वरुप निर्माण कर रखा था। ख्याल गायकी में विलम्बित लय के पश्चात् छोटा ख्याल मध्य लय में तथा अंत में द्रुत लय स्वर तालों की लयकारी करते थे। प्रायः तीनताल, तिलवाड़ा ताल, झपताल, एकताल, दीपचंदी, कहरबा, दादरा, रुपक, तेवरा एवं शूलताल का प्रयोग करते थे।[2]

उप-शास्त्रीय शैली के गीत संगीत में खास तौर पर ठुमरी गायकी में वे सिद्धहस्त् थे। ठुमरी गायन के क्रम में वे कवित भी गाते थे, जो भारत के अन्य राज्यों की ठुमरी गायन शैली से बिलकुल अलग शैली है। गायकी में आविर्भाव-तिरोभाव का अधिक प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त धमार गायन, होरी गीत, के साथ-साथ विद्यापति जी के सैकड़ों गीत को धुनबद्ध कर मिथिलांचल के साथ सम्पूर्ण भारत-वर्ष में लोकप्रिय बनाया था जिसकी छाप आज भी ज्यों का त्यों सुनाई पड़ती है। पं. लक्ष्मीनाथ गुसाँई के गीतों को भी धुनबद्ध कर लोकप्रिय बनाया। गायकी के समय कवित का प्रयोग उनकी खासियत थी। गायक मांगन की **निर्गुण गीत–"नहिरा से नतवा छोड़ौने जाइछै पियवा"**, बेहद् लोकप्रिय हुआ था। **ठुमरी गीत** अधिकतर **राग देश, राग पीलू, भैरवी, खमाज, सारंग, राग गारा,** में विशेषतः प्रदर्शन करते थे। **राग गारा** की लोकप्रिय **ठुमरी** के बंदिश–**"विकल सैंया करि गयो रे मोरा जियरा"**। मिथिलांचल के महाकवि **पं. विद्यापति** के गीतों को दरबारी संगीत में उपस्थित करने एवं विशेष धुन का श्रेय मांगन गायक को ही था। **पद्म श्री सियाराम तिवारी जी** के अनुसार–"मुझे जहाँ तक याद है सन् 1936-37 की बात है मेरी उम्र 17-18 साल की रही होगी, उन दिनों **पटना सिटी** के बेलवागंज पश्चिम दरबाजा मुहल्ले में एक रईश जमीन्दार संगीत के बहुत बड़े प्रेमी **नवालिग बाबू** के नाम से मशहूर थे, उस जमाने में उनके यहाँ आषाढ़ महीने में रथयात्रा-उत्सव बड़े धूम-धाम से मनाया जाता था जिसमें बड़े-बड़े मशहूर कलाकारों का दो दिनों का कार्यक्रम होता था, उस उत्सव में **मांगन** आये थे उनके साथ श्री बटुक जी, तथा तबला पर श्री युगेश्वर झा थे। मैं अपने पिता जी स्व. पं. बलदेव तिवारी जी के साथ उत्सव में गया था। मांगन से पिता जी की गाढ़ी मित्रता थी जिस कारण मुझको मांगन बड़ा प्यार करते थे। उसी उत्सव में मांगन का गायन सुनने का अवसर मिला। मुझे अच्छी तरह याद है कि पहले उन्होंने एक **'ख्याल' राग सूरदासी मल्हार** में जो विलम्बित लय और द्रुतलय में सुनाया था, उसके बाद एक विद्यापति का पद **"सुतलि छलौं हम घरवा रे गरवा मोती हार"**। कितने लोगों को तो मैने ऐसे देखा कि आँखों से अश्रुधारा बह रही थी, आवाज इतनी सुरीली थी तथा गले में इतना दर्द इतनी कशीश थी कि सभी लोग इनके गायन सुनकर झूम रहे थे। 1942 में तीसरी बार उनका गायन सुनने का अवसर मिला पटना के जमींदार बाबू अलख नारायण प्रसाद के निवास स्थान कदम कुँआ में जहाँ मांगन का कार्यक्रम बहुत बढ़िया रहा। शास्त्रीय गायन के अंत में एक गीत इन्होंने सुनाया था मुझे स्मरण है उसका शब्द- **सपने में साजन आये, पलंग पर वहियाँ पकड़ के लिपट गई**। क्या बतावें इस पद को उन्होंने ऐसा गाया और दर्शाया कि सब लोग आत्म विभोर हो गये थे। उक्त तीनों कार्यक्रम जो मैंने सुने ये जीवन भर भुलाने को नही हैं। मैं इनकी जितनी भी तारिफ-बड़ाई करुं बहुत कम है।"[3]

भारत प्रसिद्ध मिथिलांचल के श्रेष्ठ ध्रुपद गायक स्व. रामचतुर मल्लिक जी का **कोशी के तानसेन गायक मांगन खबास** के संबंध में कहना है कि बिहार में मांगन से बढ़कर ठुमरी गायन में तत्काल किसी दूसरे का नाम नही था। उनके गले की कशीश, जादुई मोहक आवाज, गज़ल की पेशबन्दियाँ और कल्पना के लहजे के अंदाज ने सोने में सुहागे का काम किया। साक्ष्य के आधार पर सन् 1932 ई. में मांगन अपने कर्मभूमि साधना स्थली पंचगछिया को छोड़ दरभंगा राजघराना की ओर उन्मुख हुए और अपनी संगीत प्रतिभा से राजा विशेश्वर सिंह का दिल जीत लिया। दरभंगा राजदरबार में प्रत्येक

Scanned with OKEN Scanner

दिन महफिल लगती थी जिसमें मांगन के गीत के बिना राजा साहब को न दिल में चैन और रात में नींद नही आती थी। मांगन के गायकी की विलक्षणता का प्रमाण है कि वे ठुमरी गायन के साथ साथ कवित कहते थे। ख्याल एवं ठुमरी के बाद महाकवि विद्यापति के गीत भी ठुमरीनुमा अंदाज में कहते थे। डा. चण्डेश्वर झा ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट अंकित किया है कि मिथिला में विद्यापति के गीत को सर्वप्रथम मांगन ही उजागर किया जिसका अनुसरण बाद के गायकों ने की जिनमें स्व. श्री रामचतुर मल्लिक ने पूर्ण रुप से किया, ठुमरी गायन में मांगन की तरह कविता कहा करते थे। मांगन के सम्बन्ध में मल्लिक जी ने कहा है कि वे 'सरस, सरल एवं मधुकंठ प्राप्त गायक थे। **अमता घराना** के सिद्धहस्त गायक मल्लिक जी मांगन द्वारा गाये गीत को गाया करते थे जो निम्नलिखित है :-

सपने में आये साजन पलंग पर,
बहियाँ पकड़ कर लिपट गई हो ।
आये बलम जब पलंग पर मेरे,
मैं धनी थी रस-रंग बोरे ।
सारा बदन हमरे झिकझोड़े ।
बिछल बिछौना सिमट गयो रे ।

दरभंगा राज दरबार में पं. मांगन द्वारा गाये गये ख्याल, ठुमरी, एवं विद्यापति संगीत सुनने का श्री मल्लिक को पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ।[4]

संक्षेप में मिथिलांचल कोशी का तानसेन कहे जाने वाले मांगन के गायकी की चाहे जितनी भी प्रसंशा की जाय कम होगी। इतना तो सत्य है कि कोशी की धरती पर एक से बढ़कर एक कई संगीत विभूति अवतरित हुए जिन्होंने अपने क्षेत्र के साथ सम्पूर्ण देश की गरिमा बढ़ाने में कोई कसर नही छोड़ा है। ऐसे कला विभूतियों को भुलाया नही जा सकता है। कोशी क्षेत्र की सांस्कृतिक धरोहर इस बात की गवाही देता हैं कि इस धरती पर जन्में कला मर्मज्ञों की योग्यता को नज़रअंदाज करना अपने धरती माँ का अपमान करने जैसा होगा। शोध-प्रबन्ध हेतु गहन जानकारी के स्त्रोत मैंने स्वयं भ्रमण कर संबंधित कला मर्मज्ञों के नाते रिश्तेदारों से मिलकर तथा संगीत विधा के पुराने वुजुर्ग कलाकारों से उनकी प्रतिभा के संबंध में जानकारी प्राप्त किया। जिस पंचगछिया डयोढ़ि के सानिध्य में ऐसे संगीतज्ञों की परवरिश हुई थी, उसी डयोढ़ि के सुपुत्र संगीत मर्मज्ञ स्व. कामेंद्र नारायण सिंह 'सुमन'जी से भेंट-वार्ता दिनांक-12/03/1992 को मेरी पंचगछिया यात्रा के दौरान मांगन गायक के संबंध में गूढ़ बातों की जानकारी प्राप्त की उस जमाने के वयोवृद्ध वुजुर्ग कलाकारों संगीत प्रेमियों से भी मिलकर बहुमूल्य जानकारी प्राप्त की। स्वर लय ताल के बारीकी को नजदीक से परखने की समझ थी तभी तो उन्होंने गायक मांगन के गाये रागों ठुमरियों, दादरा, भक्ति-गीत, निर्गुणगीत, नचारी, लोकगीतों को अपनी आवाज के माध्यम से गीतों के भाव-रस का प्रदर्शन कर उनके स्वर ध्वनियों के द्वारा गायन शैली की मधुरता स्पष्ट चित्र खींचकर रख दिया।[5] पंचगछिया के बाबू ब्रह्मनारायण सिंह जी के सुपुत्र **श्री नत्थू सिंह जी** से उस काल की संगीत फनकार के गीत-संगीत की जानकारी प्राप्त हुई।'' मांगन के गायन में एक विलक्षणता यह थी कि वे ठुमरी गायन के साथ-साथ कविता भी गाते थे। सर्वप्रथम तो वे विलम्बित ख्याल प्रस्तुत करते फिर मध्यलय में छोटा ख्याल उसके बाद ठुमरी एवं विद्यापति के पद गाकर गायन समाप्त करते थे। ठुमरी गायन की मधुरता बढ़ाने के लिये मांगन इस गायन में आविर्भाव एवं तिरोभाव खुब दिखाते थे। जनरंजन हेतु स्वर के शुद्ध-विकृत कोई रुप उचित समझ पूर्ण स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करते थे। इस गायन में मांगन महापंडित माने गये ठुमरी के साथ श्रृंगारिक कवित को उपस्थित कर गायन में चार चाँद लगा देते थे। इनके द्वारा गाये जाने वाले कुछ मुख्य कवित जिसे वे हमेशा गायन मध्य प्रस्तुत करते थे। होली से संबंधित ठुमरी **''केशरिया अंगिया रंग डाला, रंग डाला नन्द के लाला''** के साथ जो कविता प्रस्तुत करते थे वह निम्नलिखित हैं:-

श्रृंगरे बृजमंडल की वारी सौ नारियों कौ मंडली,
लला को धरि राधे डिंग लावेगी ।
सजि के नुकिले नयनन के शैनन से,
याम के हृदय बीच उधम मचावेगी ।
झोंकि-झोंकि झोरि भरि मूठन अबीरन की,

Scanned with OKEN Scanner

रंगहुँ की धार से अनंग को जगावेगी ।
यमुना के कुलीन शकल ग्वाल-वाल को,
कामरी उतार पिन्हा घाघरी नचावेगी ।।"

ठुमरी -" ठाड़े रहियो घनश्याम, गगरिया में धरि आऊँ ।"

इसके साथ भी कविता प्रस्तुत किया करते थे:-

"मेरो तन-मन् याम हीं सों रहो,
ओरे रंग देख होत नयन मन शाल है ।
नौले पट नीलमणि भूषण सुखद लागे,
नील जल यमुना के अति सुख पाल है।
भनय दलसिंह नृप नील बन सहज ही,
तमे सुठिप्रिय लागे विपिन तमाल है ।
नील तरु नील फूल नीलगिरि नीलकंठ,
नील घन देखे दृगमानत निहाल हैं ।"

ठुमरी के साथ-साथ **निर्गुण "नहिरा से नतवा छोड़ौने जाइछै पियवा ।"**

के साथ भी कवित प्रस्तुत किया करते थे[6]

चतुर्मुखी गायक पं. मांगन :- राग पीलू, देश, भैरवी, खमाज, सारंग, एवं गारा, रागों में विशेषतः ठुमरी गाया करते थे। **राग गारा** में जो **ठुमरी** गाते थे उनके बोल निम्नलिखित है

1. *"विकल सैया करि गयो रे मोरा जियरा"*
2. "पीड़ाए मोरी अंखिया मोरा, राजा हमसे नाहीं बोल ।

राग भैरवी की ठुमरी :-

"बाजू बन्द खुलि-खुलि जाय "।

होरी गीत में :-

"बाबरो भयो हैं नन्द लाल " ।

कजरी गीत :-

"सोचे-सोचे ब्रजवाम, नही आये घनश्याम
घिरि आये बदरा"[7]

सभी **ठुमरियों** के साथ मांगन **कवित** प्रस्तुत करते थे। जैसे ठुमरी के बोल होते कवित भी उसी प्रसंग के हुआ करते थे। मांगन **'गीत गोविन्द'** भी गायन में प्रस्तुत करते थे। गीत गोविन्द के कुछ अंश हैं जिन्हें मांगन गाया करते थे :-

रति सुखसारे गतममिसारे मदनमनोहरवेशम्
न कुरु नितम्बिनि गमन विलम्बनमनुसर तँ
हृदयषम् ।।
धीरसमीरे यमुना तीरे बसति बने बनमाली ।
गोपौ पौनपयोधरमर्दन चंचलकर युगशाली
।।ध्रुवम।।
नम समेतं कृत संसेतं वादयते मृदु वेणुम ।
बहु मनुतेऽतनु ते तनुसंग तपवन चलितमणि
रेणुम् ।धोर।

संदर्भ :

1. पंचगछिया भ्रमण भेंट-वार्ता से प्राप्त
2. राष्ट्रीय गायक पं. उपेन्द्र प्रसाद यादव जी से (मांगन गायक के शिष्य) प्राप्त जानकारी ।
3. ध्रुपद शिरोमणि रामचतुर मल्लिक - डा. चण्डेश्वर झा ।
4. मिथिला विभूति मांगन -डा. चण्डेश्वर झा।
5. स्मारिका कोशी महोत्सव, अप्रैल 2007
6. भेंटवार्ता-पंचगछिया स्टेट क कामेंन्द्र नारायण सिंह,'सुमन जी'
7. भेंटवार्ता-संगीतज्ञ श्री नत्थू सिंह जी ।

Scanned with OKEN Scanner

आधुनिक युग में संगीत शिक्षा : एक विश्लेषण

कृतानन्द पाण्डेय

आधुनिक युग में संगीत शिक्षण पद्धति जिस रूप में प्रवाहित हो रही है उस पर सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं तात्कालिक प्रशासनिक व्यवस्था में नवीन प्रयोगों का विशेष प्रभाव पड़ रहा है जिसके कारण संगीत शिक्षण पद्धति तथा उसके प्रयोजन पर अनेक प्रश्न चिहन् लगते प्रतीत होते है। यद्यपि पूर्व शताब्दियों में समय-समय पर संगीत के विकासात्मक चरणों में शिक्षा व शिक्षण प्रक्रिया की दृष्टि से तथा संगीत के आन्तरिक विकास की दृष्टि से देश, काल व परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन होते रहे हैं जिनका उल्लेख ग्रन्थों में हुआ है तथापि संगीत शिक्षण का मौखिक स्वरूप तथा उससे गुरु व शिष्य के बीच पनपने वाले आन्तरिक प्रेम व विश्वास का संबंध अनवरत रूप से चला आ रहा है क्योंकि यही वह दो आधार हैं जिनके माध्यम से संगीत शिक्षण की प्रक्रिया प्रवाहित होकर मौखिक रूप में ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित होती है। संगीत की विद्या न तो लिखकर न ही पुस्तकों में संग्रहित करके रखी जा सकती है।

धीरे-धीरे विद्यालयों की स्थापना तथा सामान्य शिक्षा के लिए खोले गए विद्यालयों में अन्य विषयों के साथ-साथ संगीत का एक विषय के रूप में मान्यता प्रदान किया जाना संगीत कला के शैक्षणिक पहलू का एक ऐसा चरण था जिसने संगीत व संगीतज्ञों को मध्यकालीन परिस्थितियों से प्रभावित संगीत के प्रति निम्न दृष्टिकोण रखने वाले समाज के बीच एक सम्मानजनक भावना की पुनर्स्थापना की। इसका श्रेय मुख्य रूप से पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर तथा पं. विष्णु नारायण भातखण्डे जी को जाता है। अन्ततः महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में एम.ए. तथा पी.एच.डी. के स्तर पर संगीत शिक्षण के कार्य ने संगीत को एक पाठ्य एवं शोध विषय भी बना लिया और संगीत के प्रमुख कलात्मक पक्ष अर्थात् क्रियात्मक गायन, वादन तथा नृत्य के अतिरिक्त संगीत के मनोवैज्ञानिक पक्ष, आध्यात्मिक पक्ष, दार्शनिक पक्ष, सामाजिक व सांस्कृतिक पक्ष, वैज्ञानिक पक्ष, चिकित्सा संबंधी पक्ष तथा सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष आदि को भी पाठ्यक्रम का अंग बना दिया। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में घरानों के रूप में संगीत शिक्षा, जो केवल रागों व अनेकानेक गेय विधाओं के परम्परागत शास्त्र सम्मत स्वरूप का संरक्षण प्रदान करने तक सीमित थी, अब बहुआयामी चिन्तन का विषय बनकर शिक्षण पद्धति की नवीन धारा में सम्मिलित हो गई, संगीत शिक्षण का आज जो अर्थ लिया जाता है वह उस पद्धति की ओर संकेत करता है जिसके माध्यम से संगीत का प्रशिक्षण दिया जाता है। पद्धति शब्द उस क्रिया को भी अंगीकार करता है जो संगीत की मौखिक परम्परा से संबंध है, उस पक्ष को भी अंगीकार करता है जो संगीत की बाह्य व्यवस्था से सम्बद्ध रहता है। संगीत शिक्षण को पूर्णतः समझने के लिए पहले संगीत व अन्य विषयों के शैक्षणिक अन्तर को समझना अनिवार्य है। अन्य विषयों में जबकि विद्यार्थी का प्रतिभावान या मानसिक रूप से ग्राह्य शक्ति से परिपूर्ण होना अनिवार्य समझा जाता है, संगीत विषय में उसका स्वर व ताल की सूक्ष्म अनुभूति के प्रति संवेदनशील होना अनिवार्य होता है।

शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

Scanned with OKEN Scanner

इसमें सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संगीत शिक्षा का तीव्र गति से विकास हुआ है और साथ ही संगीत के प्रचार को भी अत्यन्त प्रश्रय मिला है। संगीत के संस्थागत शिक्षण के साथ-साथ आकाशवाणी व दूरदर्शन के साथ-साथ चलचित्र संगीत के माध्यम से तो संगीत का विकास हुआ ही है परन्तु अनेकानेक प्रशासकीय संस्थाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक समूहों अथवा वैयक्तिक रूप से संगीतज्ञों को अन्य देशों को भेजा जाना, उन्हें पुरस्कृत किया जाना आदि ने पूर्णतः संगीत के शैक्षणिक तथा लोकप्रियता के पक्ष को सुदृढ़ किया है।

यदि कक्षा में विद्यार्थी को किन्हीं विशिष्ट घरानों के सांगीतिक विशेषताओं के बारे में प्रशिक्षण दिया जाता है तो रेडियो या टी.वी. के माध्यम से अथवा कैसेट के माध्यम से वह विशिष्ट घरानों के प्रतिनिधियों को सुनते हुए स्वयं यह विश्लेषण करने में समर्थ हो जाता है कि उन सांगीतिक विशेषताओं का क्रियात्मक स्वरूप क्या है। इसके अतिरिक्त इन प्रचार माध्यमों पर विभिन्न सांगीतिक विषय से सम्बद्ध प्रसारित वार्ताएं, ऐतिहासिक, जानकारी, ध्यान चित्रों से संबंधित चित्र, वृन्दवादन, भिन्न-भिन्न शैलियों के नृत्य कार्यक्रम आदि तथा उनसे संबंधित विश्लेषणात्मक विवरण आदि का प्रसारण न केवल सामान्य मनोरंजन का उपकरण बनता है बल्कि संगीत के शैक्षणिक पक्ष को भी समृद्ध करता है। इतना सब होने पर भी संगीत के सारगर्भित विकास तथा सारगर्भित प्रशिक्षण में सामान्य रूप से गुणवत्ता की अपेक्षा गुणात्मक वृद्धि का अनुभव किया जा रहा है।

संगीत का मूल पक्ष क्रियात्मक स्वरूप है परन्तु आज के शैक्षणिक सन्दर्भ में उसकी ऐतिहासिक, सौन्दर्य शास्त्रीय, वैज्ञानिक, मनोविज्ञान आध्यात्मिक दार्शनिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षों से जुड़ी जानकारी भी अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हो रही है। जिसका कि घरानागत शिक्षण परंपरा में अभाव था उस समय भी शिक्षक व छात्र थे, आज भी शिक्षक व छात्र हैं। परन्तु उस समय केवल रागों व तालों की विधागत, क्रियात्मक तालीम ही विशिष्ट थी जबकि आज संगीत की बहुमुखी शिक्षा प्रदान की जाती है, आज संगीत का विद्यार्थी अनपढ़ नहीं होता। उसमें अन्य विषयों के ज्ञान से परिपूरित विद्वत गोष्ठियों में भाग लने की तथा समान स्तर पर जीविका अर्जित करने की क्षमता आ जाती है। रागों तथा तालों के ज्ञान के साथ-साथ संगीत के सभी पक्षों को समझने की क्षमता आ जाती है।

संगीत शिक्षा के आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में भारत सरकार द्वारा निर्धारित नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख करना भी यहां आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यह प्रशासन तथा कार्य समितियों के रूप में जन-चेतना के समन्वित प्रयासों से युक्त एक ऐसी योजना है जिसके माध्यम से शिक्षा के सांस्कृतिक अंगों को पर्याप्त प्रश्रय मिलने की सम्भावना हो सकती है। इस शिक्षा नीति में सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से जिन योजनाओं व उनके क्रियान्वन के लिए विस्तृत रूप रेखा निर्मित की गई है वह संगीत शिक्षा की स्तर वृद्धि में भी निःसंदेह सहायक है क्योंकि संगीत संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। सन् 1986 में संसद में राष्ट्रीय स्तर पर अपनाई जाने वाली शिक्षा नीति की चर्चा की गई जिसे विशिष्ट आकार देने के लिए 23 कार्यकारी समितियों का गठन करके उन्हें इस नीति निहित विशिष्ट कार्य की रूपरेखा तैयार करने का आदेश दिया गया। इन कार्यकारी समितियों में प्रख्यात शिक्षाविदों, विशेषज्ञों केन्द्रीय व राज्य सरकारों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन समितियों को जो विशिष्ट विषय दिये गए वह इस प्रकार थे-

1. कार्य को नियम बद्ध करना।
2. विद्यालयीय शिक्षा की रूपरेखा तथा क्रियान्वयन
3. महिलाओं के समान स्तर से सम्बन्धित शिक्षा
4. अनुसूचित जाति, जन जाति तथा पिछड़े वर्गों के लिए शिक्षा
5. अल्पसंख्यकों के लिए शिक्षा
6. विकलांगों के लिए शिक्षा
7. प्रौढ़ शिक्षा
8. बच्चों के लालन-पालन सम्बन्धी शिक्षा
9. प्रारंभिक शिक्षा

Scanned with OKEN Scanner

10. माध्यमिक शिक्षा तथा नवोदय विद्यालय
11. व्यावसायिक शिक्षा
12. उच्च शिक्षा
13. अवसरीय विश्वविद्यालय तथा समयान्तरीय शिक्षण
14. तकनीकी तथा प्रबन्धीय शिक्षा
15. शोध और विकास
16. शैक्षणिक साधन तथा तकनीक (शिक्षा में कम्प्यूटर प्रयोग सहित)
17. जीविका साधन व मानवीय संसाधनों की योजना से प्रमाण पत्रों की असम्बद्धता।
18. सांस्कृतिक स्वरूप तथा भाषा नीति की प्रभावोत्पादकता
19. खेल-कूद तथा व्यायाम शिक्षा एवं युवा वर्ग
20. मूल्यांकन पद्धति एवं परीक्षा पद्धति में शोधन
21. शिक्षक व शैक्षणिक प्रशिक्षण
22. शैक्षणिक प्रबन्ध
23. ग्रामीण विश्वविद्यालय संस्थाएं

इन कार्यकारी समितियों को अपने विशिष्ट क्षेत्र में वर्तमान परिस्थितियों का परीक्षण करने तथा शिक्षा की राष्ट्रीय नीति में निहित तत्वों के क्रियान्वयन की सम्भव को जांचने-परखने का कार्यभार सौंपा गया।

शिक्षा और संस्कृति के समन्वय में आधारभूत प्रश्रय एक बालक के व्यक्तित्व के विकास पर है जिससे उसमें अपनी प्रतिभा रचनात्मक अभिव्यक्त करने की क्षमता आ सके। इस योजना के क्रियान्वयन के कुछ प्रमुख केन्द्र इस प्रकार है जैसे- सेन्टर फार कल्चरल रिसोर्सिज एण्ड ट्रेनिंग (C.C.R.T.), विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (U.G.C.), मण्डलीय सांस्कृतिक केन्द्र (Z.N.C.) आदि।

आधुनिक युग में संगीत शिक्षा को व्यवस्थित रूप देने के लिए शैक्षणिक सिद्धान्तों, प्राविधियों एवं प्रणालियों का निर्धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। विद्वानों द्वारा सामान्य शिक्षा के सन्दर्भ में जिन प्राविधियों तथा प्रणालियों का निर्धारण किया गया है वह सम्भवतः संगीत के दृष्टिकोण में निर्मित नहीं की गई परन्तु आधुनिक सन्दर्भ में जब संगीत को अन्य विषय के समान ही मान्यता प्राप्त है तथा वह एक उपयोगी विषय के रूप में स्थापित किया गया है, यह अत्यन्त आवश्यक है कि संगीत के क्रियात्मक तथा रंजनात्मक पक्ष की सीमा को ध्यान में रखते हुए तथा सामूहिक शिक्षण व वैयक्तिक शिक्षण के गुणों का सामन्जस्य स्थापित करते हुए उपयुक्त शैक्षणिक प्राविधियों व प्रणालियों का प्रयोग संगीत शिक्षा के सन्दर्भ में किया जाए। संगीत के विशद विश्लेषण की दृष्टि से, बहुमुखी विकास की दृष्टि से तथा संगीत शिक्षार्थियों के कला कौशल का पूर्ण प्रयोग करने की दृष्टि से, सांस्कृतिक धरोहर को और अधिक उन्नत बनाने की दृष्टि से संगीत को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्य विषयों के समान सारगर्भित बनाने की दृष्टि से इन शैक्षणिक प्राविधियों की अनुकूलता निश्चित रूप से अपेक्षित है।

संदर्भ :

1. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर
2. कपूर तृप्त, उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा
3. गुप्ता डॉ. एस. पी., भारतीय शिक्षा का विकास तथा समस्याएं
4. चौबे डॉ. अमरेश चन्द्र, संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय नाटक पर ग्रीक का प्रभाव

मृदुला झा

भारतीय नाटक को विकसित होने में ग्रीक देश की नाट्य कला भी कारण भूत है। इस ओर विद्वानों का ध्यान विशिष्ट रूप से आकृष्ट हुआ है। जर्मन विद्वान डॉ. वेवर ने प्रथमतः संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने की बात उठाई। इसका उत्तर डॉ. पिशेल ने इतना सयुक्तिक दिया कि कुछ दिनों तक इसकी चर्चा दब सी गई ।[1]

पुनः डॉ. विण्डिश ने इस प्रश्न की विस्तृत मीमांषा कर ग्रीक प्रभाव के स्वरूप को नई खोजों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। डॉ. वेवर का कहना है कि नाटक का उपादान संस्कृत साहित्य में इतना अल्प है कि उनके आधार पर कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता। सिकन्दर नाटकों का बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार में नाटकों का खूब अभिनय होता था ।[2]

सिकन्दर तो बहुत वाद है उससे पहले अर्थात् प्रथम नाट्ककार भरतमुनि ने तो भारत में उसी समय नाटक के मंच निर्माण में कहा था कि-

यश्चाप्यास्यगतो भावो नाना संबंध दृष्टि - समन्वितः

स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद प्रजेदव्यक्ततां पराम् ।।[3]
यस्मात् पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्य तरं भवेत।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेशां यस्मान्मध्यममिश्यते ।।[4]

अर्थात् मध्यम रंगशाला 64 हाथ की लम्बाई तथा 32 हाथ की चौड़ाई वाली एक चौकोरशाला होती थी। इसका निर्माण शुभ-मुहूर्त्त में किया जाता था। जमीन को ठीक समतल तथा चौरस बनाने के लिए उसे हल से जोतकर ठीक करते थे। चारो कोण पर चार प्रधान खम्भे लगाये जाते थे। दक्षिण पूर्व से आरम्भ कर स्तम्भों का नामाकरण चारों वर्णों के नाम पर **ब्राह्मण स्तम्भ, क्षत्रिय स्तम्भ, वैश्य स्तम्भ** तथा **शूद्र स्तम्भ** होता था ।[5]

रंगशाला के बनावट का जो विधान पाया जाता है उसके अनुसार इसे न तो कूर्म पृष्ठ की तरह होना चाहिए और न मत्स्य पृष्ठ की तरह बल्कि दर्पण के समान समतल होना चाहिए।

कूर्म पृष्ठं न कर्त्तव्यं मत्स्य पृष्ठं तथैव च।
शुद्धादर्श तलाकारं रंगपीर्श प्रषस्यते।।[6]

इस प्रकार नाटकों का जन्म भारत में ही हुआ। ग्रीक राजाओं में नाटकों का खूब प्रचार था। इसी का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर पड़ा। भारतीय प्रतिभा नवीन प्रभावों को आत्मसात् करने में नितान्त प्रवीण थी।

नाटकों का विकास स्वतः अपनी प्रतिभा के बल पर नहीं हुआ प्रत्युत ग्रीक नाटकों का अभिनय देखकर भारतीयों को इस दिशा में प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिली। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त उपेक्षणीय है। जिन आधारों पर ग्रीक प्रभाव का विशाल किला खड़ा किया है वह बिल्कुल लचर तथा एकदम दुर्बल है ।[7]

डॉ. विण्डिष का कहना है कि न्यू एटिक कॉमेडी भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने का मूल स्रोत है ।[8] उज्जैन में रचित मृच्छकटिक के ऊपर ग्रीक नाटकों का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ा है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है। इस न्यू कॉमेडी तथा संस्कृत नाटकों का सम्पर्क और सादृश्य वस्तुतः बहुत ही कम है। रोमन नाटकों के समान संस्कृत नाटक अंकों में विभक्त है, जिसके अन्त में प्रत्येक पात्र का निर्गमन

एम.ए. मैथिली,ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

अनिवार्य होता है, परन्तु यह विभाजन स्वतंत्र रूप से सिद्ध होता है। ऐसी दशा में ग्रीक प्रभाव की कल्पना केवल इसी प्रमाण के आधार पर अनुचित है ।[9]

संस्कृत नाटकों में यवन-स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के द्वितीय अंक में वनमाला-धारण करने वाली धनुर्धारिणी यवनियाँ राजा दुष्यन्त के परिचारिका के रूप में चित्रित की गई है।

एसो वाणासनहत्थाहि जवनीहि वनपुप्पमाला धारिणीहि परिबुदो इदो एव आअच्छदि पिअवअस्सो।[10]

रोमन भौगोलिकों ने स्पष्ट लिखा है कि रोम तथा भारत में गहरा व्यापार होता था जिसमेंशराब, गानेवाले लड़के तथा सुन्दर दासियाँ भेजी जाती थी। इन वेतागी रोमन ललनाओं ने भारतीय राजा लोगों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया था। भारतीय राजा उन्हें दासी बनाकर अपने महलों में रखते थे। इसी प्रकार सामाजिक घटनाओं के आधार पर संस्कृत नाटकों का वर्णन है। इससे ग्रीक नाटकों के प्रभाव पड़ने का समर्थन कदापि नहीं होता।

अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने वस्त्रवेष्म के लिए पटकुटी, पटकुड्य गुणशालिनी तथा स्थूलाशब्दों का व्यवहार होना कहा है - अमरकोषोद्घाटनः[11] (ओरियंटल बुक एजेन्सी)

अमरकोश के दूसरे टीकाकार भोजी दीक्षित ने इसी प्रसंग में कुटर, पटकुटी तथा पटवास शब्दों का उल्लेख किया है ।[12]

परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले जवनिका शब्द की व्युत्पत्ति जु धातु से है। जु धातु धातु पाठ में परिगणित न होकर निर्दिष्ट किया गया है। इसका अर्थ है गति तथा वेग अतः यवनिका का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ होगा जूचङक्रम्य[13]

गोबरधनाचार्य ने अपनी विख्यात **'आर्या सप्तशती'** में जवनी का प्रयोग परदे के अर्थ में शोभन प्रकार किया है -

व्रीडाप्रसरः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्टचेष्टेयम्।
जवनी-विनिर्गमादनु नटीव दयिता मनो हरति ।।[14]

अतः उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि यूनानी नाटकों में यवनिका का मूलतः अभाव हीं है। यवन देश में नाट्य के लिए परदे का चलन ही नहीं थी। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिए रंगमंच बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। नाटक का अभिनय खुले मैदान में हीं दर्शकों के लिए किया जाता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यूनानी नाटकों में परदा नहीं था, तब भारतीयों के लिए नकल का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः नाटकीय पर्दा भारत की अपनी निजी वस्तु है।

संदर्भ :

1. उपाध्याय आचार्य बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. - 470
2. तत्रैव ।
3. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र 2 : 23 : 24
4. तत्रैव ।
5. उपाध्याय आचार्य बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. - 480
6. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र - 2 : 27
7. उपाध्याय आचार्य बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. - 471
8. New Attic Comedy (240-260 B.C.)
9. उपाध्याय आचार्य बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. - 171
10. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीय अंक
11. क्षीरस्वामी, अमरकोश, सन 1941 ई. में प्रकाशित, पृ. - 258
12. रामाश्रमी निर्णयसागर प्रेस, पृ. - 407
13. महर्षि पाणिनि, अष्टाध्यायी, 3 : 2 : 150
14. श्री गोबरधनाचार्य, आर्या-सप्तशती

Scanned with OKEN Scanner

विभिन्न ललित कलाओं में संगीत का स्थान

आकांक्षा शर्मा

कला संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृत भाषा के आचार्यों ने इसकी व्युत्पत्ति कल, कड् और कम् धातु से मानी है। शिवसूत्र विमर्शिनी में पंडित क्षेमराज ने कला की परिभाषा करते हुए कहा है कि **''कलयति स्वस्वरूपविशेन तत्तद् वस्तुनि स्वरूपाणि वा इति कला''**। अर्थात् वस्तु को रूप देने वाली शक्ति का नाम कला है। भारतीय कलाकारों, कवियों और सहृदयों की यह मान्यता रही है कि जिसकी विश्रान्ति भोग में बन्धन है, वह कला नहीं, बल्कि बंधन है, किन्तु जिसका लक्ष्य और संकेत परम तत्व की ओर है, वही वास्तव में कला है। ''विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा न कला मता। लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला।

'Art is an activity by means of which one man having experienced a feeling intentionally transmits to others'- Tolstoy

कला मानवीय भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति है। 'कला' कल्याण की जननी है। कल्पना की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति का नाम ही कला है। कल्पना की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से एवं विभिन्न माध्यमों द्वारा हो सकती है। यह अभिव्यक्ति जिस भी माध्यम एवं जिस भी प्रकार से हो वही कला के अन्तर्गत स्थान रखती है।

कला के वर्गीकरण को लेकर भी विद्वान एकमत नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि कलाओं का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है। उपयोगिता एवं सौन्दर्य के आधार पर कुछ विद्वानो ने इसके विभाजन किये हैं-

1. उपयोगी कला
2. ललित कला

उपयोगी कलाओं का संबध हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से हैं। जबकि ललित कलाओं का संबध हमारी मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति सौन्दर्य बोध एवं आध्यात्मिक चेतना से है। उपयोगी कलाओं के अन्तर्गत उपयोग आता है। उदाहरण -काष्ठकला स्वर्णकारी, दस्तकारी, । जिन कलाओं में लालित्य का अंग विद्यमान रहता है, वे ललित कलाएँ हैं, इन कलाओं की अनुभूति सौन्दर्यात्मक होती है। इन्हें **'फाइन आर्ट'** भी कहते हैं। ललित कलाओं का मुख्य उद्देश्य मानसिक सुख या मानसिक आनन्द प्रदान करता है।

ललित कला के प्रकार -

परम्परा से निम्नलिखित पांच ललित कलायें इस प्रकार हैं-

1. साहित्य कला
2. संगीत कला
3. चित्रकला
4. मूर्तिकला
5. वास्तुकला

ललित कलायें यद्यपि देखने में एक दूसरे से भिन्न दिखाई देती है परंतु एक धरातल पर सारी ललित कलायें तात्विक दृष्टि से समान है। उदाहरण के लिए रागमाला चित्र परम्परा का यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक है जिसमें चित्रकला, संगीतकला, एवं काव्यकला का अद्भुद समन्वय दर्शनीय है।

शोधछात्रा, (गायन विभाग) संगीत एवं मंच कला संकाय,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

शोपेनहावर शिल्पकला, स्थापत्य कला एवं चित्रकला से काव्य कला को उच्च मानते हैं परंतु वह संगीत को अन्य ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

विभिन्न ललित कलाओं में संगीत का स्थान-

मानव सभ्यता के साथ-साथ विभिन्न कलाओं का विकास हुआ चौसठ कलाओं में संगीत कला, चित्रकला एवं काव्य कला सर्वाधिक प्रभाव डालने वाली कला है। मनुष्य के हृदय में सुप्त भावो को जागृत करने में संगीत जितना सक्षम है उतना अन्य कोई कला नहीं है। जो कुछ चित्र से नहीं दिखाया जा सकता वह काव्य की भाषा से कह दिया जा सकता है और जिन भावों को व्यक्त करने में भाषा भी असमर्थ हैं उन भावों को संगीत कला के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है।

गीत वाद्य तथा नृत्य सम्मलित होने से संगीत में सम्प्रेषण शक्ति और बढ़ जाती हैं संगीत के सशक्त प्रभाव का यही कारण है कि वह स्वयं असली तत्व की अभिव्यक्ति करता है। संगीत कला किसी विशेष सीमित आनंद, दुख, पीड़ा आदि को व्यक्त नहीं करता अपितु वह सामान्य सार्वभौमिक स्वरूप की अभिव्यक्ति देती है। ललित कलाओं में संगीत कला को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। मानव जीवन के सर्वाधिक विकास के लिये संगीत का विशेष महत्व है। संगीत कला के द्वारा जो भाव चित्रित किये जाते हैं उनमे वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं काव्यकला इन चारों कलाओं का प्रतिबिम्ब मिलता है।

संगीतकला का स्थान अन्य ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

संदर्भ :

1. डॉ. सतीशचन्द, कला सिंधु सभ्यता
2. ऋग्वेद संहिता (10.95 पुरूवोर्वसीयसूक्त)
3. शर्मा प्रो. स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत
4. कासलीवाल मीनाक्षी, भारतीय ललित कला के आधारभूत सिद्धान्त

Scanned with OKEN Scanner

उत्तर भारतीय संगीत के वैदिक एवं प्राचीनकाल के अवनद्ध वाद्य

अनामिका कुमारी

भारत में अवनद्ध वाद्यों का विशाल भण्डार है। वैदिक काल से ही यहाँ इस प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है। मानव के क्रमिक इतिहास का अध्ययन यदि किया जाय तो स्पष्ट होगा कि मनुष्य को सर्वप्रथम लय का ही ज्ञान हुआ होगा तथा प्राथमिक अवस्था में लय-साम्य की रक्षा तालियों से हुई होगी। जो आज भी विद्यमान है। ताली लय का सर्वप्रथम वाद्य है जिसके द्वारा विभिन्न गतियों का प्रदर्शन सम्भव हुआ।[1] आवश्यकता एवं अनुभव के सहयोग से ही अवनद्ध वाद्यों का निर्माण हुआ तथा वे उपयोग में आने लगे।

अवनद्ध वाद्य का अर्थ है वे वाद्य जो भीतर से खोखले तथा चमड़े से मढ़े हुए हो तथा हाथ या किसी अन्य वस्तु के आघात से शब्द उत्पन्न करते हो।

जैसा विदित है कि अवनद्ध वाद्यों की संख्या बहुत अधिक है वेदकाल से लेकर आधुनिक काल तक के ग्रन्थों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है। अतः सभी काल के अवनद्ध वाद्यों की विशेषता की चर्चा न करते हुए वैदिक एवं प्राचीन काल के अवनद्ध वाद्यों को मैं अपने प्रपत्र के माध्यम से प्रस्तुत कर रही हूँ।

वैदिक युग भारत के सांस्कृतिक इतिहास में प्राचीनतम युग है। इस युग में चारों वेद तथा उसके विविध अंगों का विस्तार हुआ है। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के अलावा इसकी व्याख्या करने वाले ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, आदि ग्रन्थ तथा तत्कालीन रीति रिवाजों पर प्रकाश डालने वाले सूत्र ग्रन्थों का समावेश होता है। इस काल में संगीत का स्वतंत्र विवेचन करने वाली कृतियाँ प्रायः उपलब्ध नहीं होती है।

"वैदिक काल में भी किसी जानवर की खाल को साफ कर किसी खोखली वस्तु के मुख पर उसे रखकर यदि कस दिया जाए तो वह अवनद्ध वर्ग का वाद्य बन जाता था। इस वर्ग के वाद्य में दुंदुभि एवं भूमि दुंदुभि नामक वाद्यों का उल्लेख है।"[2]

"संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद छन्दों में निबद्ध है। इस काल में निम्न वाद्यों का उल्लेख हैं-

"दुंदुभि, गर्गर, पणव, गोधा आदि।"[3]

यजुर्वेद में भी दुंदुभि तथा भूमि दुंदुभि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं पर दुंदुभि को वनस्पति के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। अथर्ववेद तथा यजुर्वेद में इसके निर्माण की विधि बताई गई है, जिसमें बताया गया है कि दुंदुभि काठ से बनाई जाती थी तथा उसका मुख चर्म से बँधा होता था। इसकी वादियों को मृसण रखने के लिए तेल का उपयोग किया जाता था जबकि भूमि-दुंदुभि यज्ञ-मण्डप में एक ओर भूमि में गड्ढा खोदकर उसे बैल के चर्म से आच्छादित कर निर्माण किया जाता था। उपनिषद में छान्दोग्य और वृहदारण्यक में संगीत का विशेष रूप से उल्लेख है। इसमें भी दुन्दुभि की चर्चा है। मृदंग वाद्य का उल्लेख उपनिषदकाल में ही मिलता है। इसके साथ सामगान किया जाता था। चर्मवाद्यों में आडम्बर, लंबर जैसे नवीन वाद्यों की खोज की गई।"[4]

प्राचीन काल में भी वाद्यों की संख्या अधिक रही है। इस युग में लिखे गये ग्रन्थ, पुराणों (मार्केण्ड पुराण, वायु पुराण, स्कन्द पुराण) रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों में वर्णित संगीत चर्चा

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

तथा वाद्यों के वर्णन से ज्ञात है कि संगीत का प्रचार-प्रसार इस समय भी चलता रहा।

पुराणों में विभिन्न वाद्यों का उल्लेख है-

अग्नि पुराण में-

पणव, दर्दुर, आनर, मुरज, मृदंग तथा भेरी।

वायु पुराण में-

मर्दल, दुंदुभि, झर्झर, पटह, भेरी, डिंडिम, गोमुख आदि।

मार्कण्डेय पुराण में-

दर्दुर, पणव, पुश्कर, मृदंग, पटह, आन, देवदुंदुभि आदि।"[5]

रामायण काल में चर्मज वाद्यों में निम्न वाद्य रहे हैं–

मुरज, चेलिका, दुंदुभि, मड्डुक, पटह आदि वाद्य आते है।

महाभारत काल में निम्न वाद्यों की चर्चा हुई है–

भेरी, पणव, आनक, पटह, मुरज आदि।

पाणिनीकृत अष्टाध्यायी व्याकरण का सबसे विख्यात ग्रन्थ है इसके अन्तर्गत निम्न वाद्यों की चर्चा है- मृदंग, मडडुक, झर्झर और दर्दुर।"[6]

बौद्ध तथा जैन युग के अवनद्ध वाद्यों में निम्न वाद्यों की चर्चा है-

पणव, पटह, भम्मा, होरम्भा, भेरी, झल्लरी, दुन्दुभि, मुरज, मुइंग, आलिंग्य, कुटुम्ब, गौमुही, मर्दल, हुडुक्का, विचिक्की, करटा, डिंडिम, कडम्ब, डडरिया, दर्दरिका, मड्डस आदि।

वृहत्तकल्प भास्य पीढिका में बारह वाद्यों के नाम है-

भम्मा, मुकुन्द, मर्दल, कड़व, झल्लरी, हुडडुक, कंसाल, काहल, तालिया, वंस, पणव, शंख आदि।"[7]

प्राचीन काल के ग्रन्थों में भरत का नाट्यशास्त्र सबसे प्रमुख ग्रन्थ माना गया है। नाट्यशास्त्र के छत्तीस अध्यायों में दो अध्याय षष्ठम तथा सप्तम रस से संबंधित है। अठ्ठाइस से सैंतीस छह अध्याय संगीत से संबंधित है। उस समय जो वाद्य प्रचलित रहे उनका वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया गया है। वाद्यों को चार वर्गों में विभाजित करके उनके नाम गुण निर्माण विधि तथा उनकी वादन प्रक्रिया एवं सामग्री का वर्णन किया गया है। वाद्यों में मृदंग, पणव, दर्दुर, पटह, भेरी, भाण आदि का उल्लेख हुआ है।

नाट्यशास्त्र के पश्चात् प्राचीनकाल में ही संगीत नाटको से पृथक संगीत का स्वतंत्र रूप से भी व्यवहार होने लगा था। अतः संगीत के लक्षण ग्रन्थों की रचना भी स्वतंत्र रूप से होने लगी, इस परम्परा में दंत्तिलम, संगीत मकरन्द, वृहद्देशी, संगीत समयसार आदि ग्रन्थों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

संगीत मकरन्द में-

मृदंग, दर्दुर, पणव, झर्झरी, पटह, उर्ध्वक, आंलिग्यक, गोपुच्छ, डमरू, मड्डुक, डिमडिम आदि वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

वृहद्देशी में निम्न वाद्यों का वर्णन है-

मृदंग, मुरज, ढक्का, रूंजा आदि।

13वीं शताब्दी के आसपास पं. शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर नामक ग्रन्थ की रचना की जिसे संगीत का प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। यह सात अध्यायों में विभक्त है। पाँचवा तालाध्याय तथा छठा वाधाध्याय ताल तथा वाद्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत पटह, मर्दल, हुडुक्का, करटा, धडस दुंदुभि, भेरी, निःसान आदि का वर्णन हुआ है।"[8]

अतः भारतीय संगीत में अवनद्ध वाद्यों की संख्या असीमित है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ वाद्यों के स्वरूप में परिवर्तन हुए है तथा कुछ नए वाद्यों का विकास भी हो रहा है।

संदर्भ :

1. सेन डॉ. अरूण कुमार, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन पृ. सं. 32
2. गर्ग डॉ. लक्ष्मीनारायण, भारतीय वाद्य अंक-जनवरी 2004 पृ. सं. 3
3. संगीत पत्रिका (वैदिक संगीत अंक) जनवरी - 2007- पृ. सं. 68
4. शर्मा भगवत शरण, हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र, पृ. सं. 39
5. परांजपे डॉ. शरचन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. सं. 223
6. सिंह डॉ. ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास पृ. सं. - 29
7. परांजपे डॉ. शरचन्द्र श्रीधर भारतीय संगीत का इतिहास पृ. सं. 182-185
8. पं. शारंगदेव, संगीत रत्नाकर पृ. सं. 12-14

Scanned with OKEN Scanner

''संगीत के तीनों विधाओं (गायन, वादन, नर्तन) का चिकित्सीय महत्व''

अलका गिरि

''गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते''

संगीत रत्नाकर में शारंगदेव ने गायन, वादन , नर्तन तीनों को सम्मिलित रूप से संगीत कहा है संगीत के तीनो विधाओं का मनुष्य के मस्तिष्क व शरीर पर विशेष सकारात्मक प्रभाव पड़ता है यह हमारे मनोभावों को दर्शाता है अर्थात यदि हम दुखी होते हैं तो शांत व धीमा संगीत पसंद करते हैं और जब प्रसन्न होते हैं तब तेज संगीत पसंद करते है।

संगीत मानवीय मनोविकार को दूर करने की एक श्रेष्ठ उपचार पद्धति है, इसका प्रभाव गहरा होता है, संगीत मन को गहराई तक स्पर्श करती है तथा वहां सुप्त कटु विकारों को दूर कर आनन्द का निर्झर भरती है इससे मानसिक अशांति दूर होती है एवं भावनात्मक अतृप्ति मिटती है शरीर में स्फूर्ति के साथ-साथ सकारात्मक तरंगो का संचार होता है। इसके द्वारा व्यक्ति के सम्पूर्ण पक्षों (शारीरिक, मानसिक) का विकास होता है। इसके महत्व व विशेष गुण को देखते हुए ही वर्तमान समय में संगीत के वैज्ञानिक पहलुओं पर विचार करके इसे चिकित्सा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा।

संगीत से रोगोपचार की प्रक्रिया अतिप्राचीन है भारतीय शास्त्रीय संगीत के विभिन्न रागों से अनेक प्रकार के अद्भुत कार्य सम्पन्न होते थे जैसे-उच्च रक्तचाप के लिए राग तोड़ी व भैरवी प्रभावशाली होता है इसी प्रकार अलौकिक शक्ति के युक्त राग मालकौस का प्रयोग निम्न रक्तचाप को संतुलित करने में होता है इसके अतिरिक्त अन्य रागों जैसे-जौनपुरी राग का कब्ज हेतु मल्हार व कानड़ा राग का अस्थमा में, सायनस में भैरवी, सिरदर्द में पूर्वी व तोड़ी राग का अनिन्द्रा में खमाज एवं आत्मविश्वास में वृद्धि हेतु मोहनम् राग का प्रभावशाली प्रयोग किया जाता है।

पाश्चात्य जगत में यह परम्परा विशेष रूप से यूनान में देखने की मिलती है। अरस्तु, प्लेटो और पायथागोरस को संगीत के माध्यम से रोगों की उपचार प्रक्रिया भली प्रकार ज्ञात थी। अरस्तु के अनुसार ''बांसुरी की स्वरलहरियों में भावनात्मक विकारों को दूर करने की अद्भुत क्षमता होती है।'' प्लेटो की मान्यता कि ''संगीत एक नैतिक नियम है, जो जीवन की अतृप्ति को दूर कर नैसर्गिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।'' पायथोगोरस का कहना है कि ''सगीत में मन के रिसते जख्म को भरने की आश्चर्यजनक शक्ति होती है।''

अफ्रीका के निवासी संगीत उपचार का प्रयोग बुखार, हृदय रोग आदि में करते थे। 19वीं सदी में संगीत चिकित्सा को बड़े सम्मान के साथ देखा गया तथा इसका प्रयोग मानसिक रोगों को ठीक करने के लिए किया जाने लगा।

लगभग 1926 से इसके द्वारा अवसाद एवं तनावजन्य रोगों को दूर करने हेतु प्रक्रिया चली। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका में इसकी लोकप्रियता में भारी वृद्धि हुई एवं कई वेटरन एडमिनीस्ट्रेशन ''हास्पिटल'' में संगीत चिकित्सा

शोध छात्रा (नृत्य विभाग), संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

का प्रयोग युद्ध से प्रभावित मनोरोगों से मुक्ति हेतु किया गया।

संगीत चिकित्सा में पाश्चात्य संगीत के उपयोग के साथ ही भारतीय संगीत का प्रयोग किया जाने लगा है। संगीतज्ञ **'एण्ड्रयू वाटसन' के अनुसार "भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयोग होने वाले राग, संगीत चिकित्सा के मुख्य आधार हैं। जर्मनी के एण्ड्रयूज कोलेनेविंडर, फ्रांस के जीन माइकल जारे, आयरलैण्ड के ऐन्या, जापान के किटारो, उत्तर अमेरिका के पॉल हॉर्न डेविडलेंज, फिलिप ग्लास** आदि ने संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनके द्वारा निर्मित संगीत, संगीत चिकित्सा में उपचार हेतु प्रयोग किया जाता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत इस दिशा में मील का पत्थर साबित हो रहा है। इसी कारण **"द हिलिंग फोर्स ऑफ म्यूजिक"** के लेखक आर. मैक्लीन ने स्पष्ट किया है कि भारतीय संगीत मानसिक शांति एवं सक्रियता लाने वाली दिव्य औषधि है जो हमारे तन, मन और भावना में नव जागृति भर देती है।

संगीत की इस दिव्य क्षमता का प्रभाव शरीर और मन पर पड़े बिना नहीं रहता है। बायोकेमिकल सिद्धान्तों के अनुसार "संगीत, मानव शरीर क्रिया पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। यह प्रभाव मस्तिष्क के सेरिब्रल कॉर्टेक्स एवं आटोनॉमिक नर्वस सिस्टम के माध्यम से पड़ता है। एस. मेरिट के शोधग्रंथ **"माइंड म्यूजिक एण्ड इमेजरी"** में इस तथ्य पर व्यापक चर्चा की गई है। इसके अनुसार "संगीत की स्वरलहरियाँ कान के अन्दर प्रवेश करती हैं एवं इलेक्ट्रिकल नर्व इम्पल्स के रूप में परिवर्तित होकर न्यूरल नेटवर्किंग के माध्यम से सेरिब्रल कॉर्टेक्स में पहुंचती है। कॉर्नुसो के "म्यूजिक एण्ड योर इमोषन" से हृदय गति और संगीत की लय के बीच सम्बन्ध उजागर होता है इसमें उल्लेख है कि संगीत हृदय की अतृप्ति को शांत कर इसकी भावना को पुष्ट करता है। इनके शोध निष्कर्षो से पता चलता है कि पाश्चात्य संगीत की अपेक्षा भारतीय सगीत इस क्षेत्र में अधिक कारगर सिद्ध होते है क्योंकि भारतीय संगीत की स्वर रचनायें इस प्रकार होती है कि वे हृदय की धड़कनों की लय एवं स्वर से सांमजस्य रखती हैं, संगीत से हृदयगति को न्यूनतम स्थिति तक लाया जा सकता है। संगीत चिकित्सक डॉ. हेलेन बोनी ने एक हॉस्पीटल में रोगियों को भारतीय व पाश्चात्य शास्त्री संगीत सुनाया और इसका प्रायोगिक परिणाम बहुत ही सकारात्मक पाया, संगीत सुनने के बाद रोगियों का रक्तदबाव, हृदयगति, मांसपेशियों की गति के साथ-साथ अनिद्रा व तनाव में कमी पाई गयी।

जिस प्रकार विभिन्न स्वर, लय आदि का चिकित्सीय प्रभाव शरीर पर पड़ता है उसी प्रकार नृत्य की गतियों का भी शरीर पर चिकित्सीय प्रभाव पड़ता है, नृत्य शरीर व मस्तिष्क के अन्तर्सम्बन्धों को प्रदर्शित करता है। नृत्य चिकित्सा में शरीर के विभिन्न गतियों या अंग संचालन द्वारा शारीरिक व मानसिक विकारों को दूर किया जाता है। नृत्य एक प्रभावशाली चिकित्सा मानी जाती है एक रिपोर्ट के अनुसार नृत्य चिकित्सा आत्म अभिव्यक्ति में वृद्धि के साथ तनाव को घटाने में सहायक होता है। व्यायाम के एक प्रकार के रूप में नृत्य चिकित्सा व्यक्ति के मानसिक व शारीरिक जीवन पर प्रभाव डालता है, नृत्य की गतियों द्वारा शरीर के समस्त अंगो में रक्त प्रवाह निर्बाध रूप से होता है। कुछ नृत्य चिकित्सकों के अनुसार नृत्य हमारे शरीर के रोग प्रतिरोध क्षमता को बढ़ाने के साथ ही शरीर में अतिरिक्त वसा का क्षय करके मोटापा बढ़ने से रोकता है।

नृत्य कई रोगों को दूर करने में सहायक है। यह तथ्य इस विश्वास पर आधारित है कि मस्तिष्क व शरीर दोनों एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। जिस कारण व्यक्ति के एकाग्रता व स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है। आजकल कैंसर के इलाज में भी नृत्य का प्रयोग किया जाने लगा है इसके साथ ही नृत्य चिकित्सा का प्रयोग विशेष रूप से मस्तिष्क से जुड़ी समस्याओं जैसे-मिर्गी, हिस्टीरिया, माइग्रेन डिप्रेशन, अशांति के साथ ही नकारात्मक भावों से छुटकारा दिलाने में होता है। यह मानसिक तनाव दूर कर मांसपेशियों को जकड़न से मुक्त करता है।

संगीत की तीनों विधाओं द्वारा चिकित्सा का एकमात्र उद्देश्य शरीर को शारीरिक व मानसिक तौर पर स्वस्थ रखना है। संगीत केवल मनुष्यों पर ही चिकित्सीय प्रभाव नहीं डालता बल्कि वह

Scanned with OKEN Scanner

जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पौधों के विकास पर भी प्रभाव डालता है। पौधों की वृद्धि पर संगीत के प्रभाव के अनुसंधान किये गये हैं-मक्का, कुहड़ा, गेंदा आदि पर संगीत का प्रभाव देखा गया है। पं. रविशंकर द्वारा तैयार किये गये सितारवादन के प्रभाव से फलों , फूलों में वृद्धि के साथ गाय द्वारा दिये जाने वाले दूध की मात्रा में वृद्धि पाया गया है।

संगीत मन और भावना को आनन्दित कर देता है। महाकवि टैनिसन ने कहा है- यदि नृत्य एवं संगीत लुप्त हो जाय तो समाज में मानसिक रोगियो की संख्या बढ़ जायेगी क्योंकि यह मनुष्य को विषम परिस्थिति का सामना करने की प्रेरणा देती है। मनुष्य के समस्त कार्यो का संचालन उसके मस्तिष्क से होता है और संगीत मस्तिष्क को स्वस्थ्य रखने के साथ ही आनन्द प्रदान करती है। संगीत की इस दिव्य विशेषता के कारण ही वैज्ञानिक ने संगीत का संबंध दैवीय शक्तियो से जोड़ा है। इनके अनुसार संगीत मन को उच्चस्तरीय आयामों में पहुंचा देता है एवं एक नये संसार में प्रवेश करा देता हैं। संगीत की कर्कश ध्वनि मानवीय मस्तिष्क पर हानीकारक प्रभाव डालती है जबकि सुगम व शास्त्रीय संगीत जैस श्रेष्ठ संगीत मानव जीवन को सरस, सहज, स्वस्थ व सुन्दर बनाने में योगदान देता है। अतः हमें श्रेष्ठ व मन को शांत करने वाले संगीत का चयन कर अपने सम्पूर्ण पक्षों (शारीरिक, एवं मानसिक) का विकास करना चाहिए।

संदर्भ :

1. शर्मा डॉ. सतीश, संगीत चिकित्सा
2. शार्ङगदेव, संगीत रत्नाकर -
3. www.cancer.org.
4. अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका-सितम्बर 2004
5. भैरवी संगीत शोध पत्रिका-2010, दरभंगा-बिहार

Scanned with OKEN Scanner

मध्यकालीन संगीत का इतिहास

नूतन कुमारी

संगीत में मध्यकाल 800 ई. से 1800 तक माना गया है जिसमें मुख्यतः मुगल काल का समय होता है। फिर भी आदि काल के उपरान्त प्राचीन काल की समाप्ति पर जब भारत पर यवनों का आक्रमण होते रहने पर उनका जीवन कष्टमय हो गया था। उनका अध्यात्मिक विकास एकदम घट गया, हिन्दू, मुसलमान होते जा रहे थे। इसी समय धर्म परिवर्त्तन करने वाले संस्कृति संगीत की प्रशंसा करने लगे थे। विजयी मुसलमान अपने साथ कुछ कलाकारों को लाये थे। इसी काल में भारतीय संगीत के समूल को नष्ट करने का प्रयास किया गया। उत्तर भारत में इस समय संगीत की स्थिति दयनीय थी, वहाँ दक्षिण भारत में आन्तरिक द्वन्द की कमी थी। अन्ततः उत्तर भारतीय संगीत के रुप लुप्त हो जाने के बाद भी दक्षिण भारत में उसकी रक्षा एवं उन्नति हो रही थी।

खिलजी युग :- 1290 ई. से 1320 ई. में अलाउद्दीन खिलजी जुलाई सन् 1296 ई. में गद्दी पर बैठे। उनके राज्यकाल में अमीर खुसरो नामक प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुए। क्योंकि सुल्तान स्वयं संगीत प्रेमी थे। अतः खुसरो को नई ताल एवं राग रचने में बड़ा प्रोत्साहन मिला। कुछ लोगों का मानना है कि सितार और तबले के जन्मदाता खुसरो ही हैं। खुसरो का जन्म 1200 ई. में हुआ था। उन दिनों भारत में मुस्लिम शासित प्रदेश सर्वदा शून्य हो चुके थे। अन्त में खुसरो जलाउद्दीन तथा अलाउद्दीन के राज्यकाल में हिन्दू गायक के आसपास दिखायी दिए। उन्हीं से उस भ्रष्ट पद्धति का यथासंभव परिचय प्राप्त हुआ। खुसरो योग्य प्रतिभाशाली परन्तु राज्यशक्ति के साथ रहने वाले कूटनीतिज्ञ एवं दरबारी व्यक्ति थे। उसने अपने जीवन-काल में दिल्ली की प्रायः 11 बादशाहते देखी थी, जिनमें से उनके सुल्तान उनके आश्रयदाता थे। वह उच्च कोटि के कवि और विद्वान थे। उसने प्रत्येक सुल्तान के सामने ऐसे ही सिर हिलाया तथा झुकाया जैसे पूर्ववर्तित सुल्तान से उनका कोई संबंध न हो।

गोपाल नायक को भी अमीर खुसरो तथा अलाउद्दीन खान का समकालीन माना जाता है। कहा जाता है कि उसने गोपाल नायक को पराजित किया था। यद्यपि खुसरो जैसे आत्मप्रशंसक अपने ग्रंथों में गोपाल नायक के साथ साक्षात तक का उल्लेख नहीं किया था। यदि इन जनश्रुति को सत्य मान भी लिया जाए तो यह निश्चित हो जाता है कि खुसरो को गोपाल नायक द्वारा गाये रागों की शिक्षा नहीं थी। इस प्रकार गोपाल नायक के रागों को स्वयं कह कर खुसरो की प्रतिभा में कूटनीतिज्ञता और हठवादिता का प्रमाण मिलता है। इस काल में मुसलमानों ने संगीत के शास्त्रीय पक्ष की अवहेलना करके केवल उसके क्रियात्मक पक्ष पर ध्यान दिया। फलस्वरुप गायन के अनेक ढ़ंग जैसे कव्वाली, तराना आदि प्रचलित हो गए।

तुगलक काल :- गयासुद्दीन तुगलक भी लगभग 1320 ई. को गद्दी पर बैठे थे। वे संगीत के प्रति उदासीन रहे। इनके उपरान्त उनके पुत्र मो. तुगलक गद्दी पर बैठे जो स्वयं संगीत प्रेमी थे। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम को एकत्रित करके संगीत के विकास में

शोध छात्रा, संगीत विभाग, ति.मा.भा.वि.वि., भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

योगदान दिया। यद्यपि दरबारों में संगीत के आयोजन होते रहते थे। परन्तु इस काल में संगीत को राजाश्रय नहीं मिला।

लोदी काल :- इस काल में संगीत मिला, परन्तु भारतीय संगीतज्ञ की आत्मा को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ध्रुवपद शैली को जन्म दिए। फलस्वरुप मुगल काल में ध्रुवपद की प्रधानता रही। बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब और बहादुरशाह जैसे बादशाह हुए। जिन्होंने संगीत में अनेक परिवर्त्तन किए।

मुगलकाल में बाबर और हुमायूँ गद्दी पर बैठे तो इसमें बाबर स्वयं संगीतज्ञ थे और संगीतज्ञों का सम्मान करते थे। परन्तु उनकी दृष्टि में संगीत मात्र मनोरंजन का विषय था। उन्हीं दिनों ईश्वर की कृपा से भारत में भक्ति आंदोलन का जोर पकड़ा। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु एवं अन्य भक्त संकीर्त्तण का प्रचार कर रहे थे साथ ही साथ कुछ ऐसे विद्वान हुए जिन्होंने संगीत के शास्त्रीय पक्ष को भी सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। इस काल में संगीत में दो प्रमुख परिवर्त्तन हुए। पहला संकीर्त्तण और भजन का प्रभाव और मध्यकाल में जो संगीत पर अनैतिकता की धूल जम गई थी वह घट गई। जौनपुर के बादशाह सुल्तान हुसैन शर्की ने कुछ नवीन रागों की रचना की और ख्याल पद्धति को प्रतिष्ठित किया।

अकबर :- संगीत की इस डमाडोल स्थिति में अकबर 1560 से 1605 ई. तक गद्दी पर बैठा। इनके काल में अनेक कलाकार अपनी कला एवं धर्म को बेच चुके थे। मुस्लिम विजेता न तो विद्या के प्रेमी थे न ही उनके संरक्षक। 'आइने अकबरी' में 36 संगीतज्ञों के नाम दिखायी देते हैं। इच्छापूर्ति के बहाने प्रचलित मतावलंबी संस्कृत ग्रंथों पर मनमाना अत्याचार हो रहा था फिर भी इस काल में तानसेन, बैजू बावरा, रामदास, मदन राय, बृज चन्द, श्री चंद्र जैसे अनेक संगीतज्ञ और स्वामी हरिदास, सूरदास, मीरा बाई, तुलसीदास, गरीबदास, कबीर और बल्लभ संप्रदाय के अनेक संगीत शिरोमणि भक्त विशेष उल्लेखनीय हैं।

तानेसन-बैजू बावरा :- इससे पहले तानसेन राजा रामचंद्र के यहाँ रहते थे। इनकी संगीत की प्रशंसा सुनकर अकबर ने इन्हें अपने दरबार में प्रधान गायक के रुप में रखा। किंवदंती है कि तानसेन और बैजूबावरा की संगीत प्रतियोगिता भी एक बार हुई। जिसमें बैजू बावरा जीत गए थे। तानसेन ने कुछ रागों का आविष्कार किया। जिसमें दरबारी कान्हड़ा, मियाँ मल्हार, मियाँ सारंग हैं। तानसेन के संगीत से प्रभावित होकर इनके अनेक शिष्य भी हो गए थे। बाद में यह शिष्य समुदाय दो भागों में बँट गया।

1. रबाबीय :- जो तानसेन द्वारा अविष्कृत रबाब बजाते थे।
2. वीणकार :- जो वीणा बजाते थे।

वीणाकारों के प्रतिनिधि रामपुर के वसीर खाँ तथा रबाबियों के मुहम्मद अली खाँ माने जाते थे।

स्वामी हरिदास :- अकबर के समय में ही स्वामी हरिदास वृन्दावन के एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ महात्मा हुए। इनके शिष्यों द्वारा भी संगीत का प्रचार अनेक नगरों में हुआ। कहा जाता है कि स्वामी हरिदास जी अपने समय के सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। इनके विषय में एक-दन्त कथा इस प्रकार है - एक दिन अकबर ने तानसेन से पूछा कि ऐसा कोई गायक है जो तुमसे अच्छा गाता हो? इसपर तानसेन ने अपने गुरु हरिदास का नाम बताया और अकबर अपनी जिज्ञासावश अपना वेश बदलकर तानसेन को लेकर स्वामी हरिदास के यहाँ जा पहुँचे। जब स्वामी जी से गाने को कहा गया तो उन्होंने अपनी अनिच्छा प्रकट की। इसपर तानसेन ने चाल चली और जानबूझ कर एक राग को अशुद्ध रुप से गाने लगे जिसे सुनकर स्वामी जी से रहा नहीं गया और उन्होंने शुद्ध रुप में उस राग को गाकर बताया। इस प्रकार अकबर की इच्छा पूरी हुई।

सूर, कबीर, तुलसी और मीरा :- सोलहवीं शताब्दी संगीत और भक्ति, काव्य के समन्वय की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण रही। क्योंकि इसी शताब्दी में सूर सागर के रचयिता एवं गीत काव्य के प्रकांड विद्वान महात्मा सूरदास, रामचरित मानस के यशस्वी लेखक गोस्वामी तुलसीदास, हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक संत कबीरदास तथा सुप्रसिद्ध कवयित्री और भजन गायिका मीरा बाई द्वारा भक्तिपूर्ण काव्य के

Scanned with OKEN Scanner

प्रचार से संगीत कला भगवत प्राप्ति का साधन बनकर उच्चतम शिखर पर जा पहुँची।

अकबर के उपरान्त जब अक्टूबर 1605 ई. में जहाँगीर गद्दी पर बैठे तो वे भी स्वयं संगीत प्रेमी थे। उनके दरबार में एक से एक सुंदर नर्तकियाँ और गायक थे। अकबर के काल में उत्तर भारतीय संगीत में ईरानी और अरबी संगीत के मिश्रण से एक अद्भुत निखार और लावण्य प्रतिभाषित होने लगा था वह महत्वपूर्ण रुप में विकसित हो गया था।

बादशाह और बेगम नूरजहाँ दोनों मिलकर संगीत सुनते थे। इस काल में संगीत के मौलिक सिद्धांतों की रक्षा पूर्ण रुप से हुई। जहाँगीर के उपरान्त उनके पुत्र शाहजहाँ भी संगीत प्रेमी थे। उस समय उत्तम कलाकारों को पुरस्कार दिया जाता था। दरबारी संगीतों में हिन्दू कलाकरों की उपेक्षा न हो इसका ध्यान रखा जाता था। संगीतज्ञों का इतना सत्कार व सम्मान होते हुए भी वे अपनी कला साधना से हटकर विलासी बनते जा रहे थे। अनेक संगीतज्ञ ऐसे भी थे जिन्हें लिखना-पढ़ना नहीं आता था फिर भी संगीत के महान आचार्य समझे जाते थे। इसी काल में कत्थक नृत्य का बहुत प्रचार हुआ और गायन तथा नृत्य का पूर्ण रुप से गणिकाओं के हाथ में चला गया। इस प्रकार संगीत के पतन की नींव रखी जा चुकी थी। इन्हीं दिनों औरंगजेब का गद्दी पर शासन हुआ और वह पूर्ण रुप से संगीत विरोधी था।

खुशहाल खाँ और हयात सरसनैन संगीतकारों पर औरंगजेब की विशेष कृपा थी। 'कृपा' नामक पखावजी को उन्होंने मृदंगराय की उपाधि से सम्मानित किया था। उनके एक कर्मचारी रौशन जमीर ने संगीत परिजात का फारसी अनुवाद किया था। फकीर अल्लाह ने मानक कौतूहल का अनुवाद औरंगजेब को समर्पित करने के लिए किया था। इन्हीं के समय में जो उत्सव मनाया गया उसमें वेश्याओं का नाच गाना तथा औरंगजेब के साथ होली खेलना भी हुआ जिसका वर्णन ध्रुवपदों से प्राप्त होता है। 78 हिजड़ी में औरंगजेब ने हुक्म दिया कि गायक दरबार में आवें पर गाये नहीं। इटालियन इतिहासकार मुनक्की ने कहा कि संगीत पर सब प्रकार के प्रतिबंधों के बावजूद भी बेगमों और शहजादियों के मन के मनोरंजन के लिए गायिकाओं तथा नर्तकियों की नियुक्ति वह खुद करता था। सन् 1719-40 ई. में मो. शाह रंगीले मुगल वंश के अन्तिम बादशाह थे। वे स्वयं संगीत में निपुण थे। इनके दरबार में सदारंग, अदारंग और महारंग उत्तम संगीतज्ञ थे। इसी काल में टप्पे के साथ ठुमरी का भी प्रचलन हुआ और भारत तथा फ्रांस के संगीत का मिश्रण इस काल की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।

Scanned with OKEN Scanner

कीर्तनियां नाटक के गीतों का शास्त्रीय अध्ययन

डॉ. शीला झा

ऋग्वेद के अनुसार सृष्टि के पूर्व अनन्त जलराशि की विद्यमानता थी। पुनः प्रकृति और पुरूष के नृत्य-विन्यास से जिन शीकरों की सृष्टि हुई, उनसे ब्राह्मणों की रचना हुई। इस प्रकार प्रकृति-पुरूष के नृत्य से ही प्रथमतः ध्वनि का प्रादुर्भाव हुआ। सम्प्रति अंतरिक्षस्थ स्वर माधर्य का वर्णन दृष्टिगत होता है।[1]

उच्चा ते जातमन्धसो
दिविसद् भूम्या ददे
उक्तं शर्म महिश्रवः।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सृष्टि के मूल में ही नृत्य तथा संगीत की विद्यमान है। विश्व के अंतस्थल से जिस मधुरतम संगीत का प्रादुर्भाव होता है वही पिण्ड में अनाहत का अनहद-नाद के रूप में अवतरित होता है। नादब्रह्म के साक्षात्कार से जीवन में परम धन्यता आगमित होती है। निगमागम में गीत-संगीत का माहात्म्य वर्णित है। स्वर समुदाय की शाश्वत स्वतः है। राग-रागिनी की रसाभिव्यक्ति से मन-प्राण पुलकित हो जाते है। पुरूषोत्तम कृष्ण की पुलकित अघटित घटना परीयसी कही गई है।[3] नाद प्राण के सम्मिलन से मुरलिका की स्वर माधुरी प्रेषित होती है।

प्राचीन संस्कृत नाटकों में भी गीत्यात्मक पन्नों का प्रयोग परिलक्षित होती है। भक्तिभावपरक नाटक तो गीत प्रधान ही होते हैं। भारतीय नाट्य परंपरा के अध्ययन क्रम में नाटकों के गीतों का पदों का संगीत शास्त्रीय अध्ययन भी अनिवार्य हो जाता है। स्वर माधुरी को विन्यस्त करने के क्रम में नाट्य कृतियों के पदों की आस्वादनीयता विचारणीय हो जाती है। भावातिरेक का यह सौष्ठव परमानुराग को प्रकट करता है।

कीर्तनियां नाटक के गीतों के शास्त्रीय अध्ययन के क्रम में यह कहना आवश्यक है कि मैथिली में जिन कीर्तनियां नाटको की रचना हुई है, उसका क्षेत्र मिथिला के अतिरिक्त नेपाल, आसाम आदि से भी सम्बद्ध है। इन नाटकों पर संस्कृत नाटकों का प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है।

कीर्ति गायन क्रम में कीर्तन शब्द का प्रयोग होता है। भजन रसनम् इस्व श्रुति के अनुसार रसपूर्ण गायन को ही भजन कहा जाता है। डॉ. कृष्ण चन्द्र झा 'मयंक' कीर्तन की वैदिक परंपरा को सिद्ध करते हुए कहते हैं - श्रुति में ब्रह्म को रूगाय कहा गया है। रूगाय का अर्थ गायन योग्य होता है। जीव की भजनीयता सिद्ध नहीं होती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी भजनीया नहीं है। एक मात्र ब्रह्म ही भजनीय है। उसी का कीर्तन किया जाता है। उसी की कीर्ति गाथा का विस्तार होता है।[4]

मैथिली साहित्य में कविलाल कृत गौरी स्वयंवर कीर्तनियां का प्रचुर प्रचार था। डॉ. जयकान्त मिश्र के अनुसार तथाकथित कीर्तनियां नाटक के दो भेद हैं -

(1) नियमित नाटक संस्कृत प्राकृत में रचित जिसमें मैथिली पदों का भी उल्लेख हैं उमापतिकृत पारिजातहरण, रामदासकृत आनन्दविजय, भानुनाथ प्रणीत प्रभावतीहरण इसी कोटि की नाट्य कृतियां हैं। इन नाटकों का कथोपकथन मूलतः संस्कृत में ही है।

संगीत शिक्षिका, मेडौना स्कूल, दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

(2) अनियमित नाटक इस कोटि के नाटको में संस्कृत भाषा का प्रयोग क्रमशः अल्प होती गयी है तथा मैथिली पदों की आधिक्य दृष्टिगत होता है। इनमें नन्दीपति कृत 'कृष्णकेलिमाला' शिवदत्त, कान्हारामदास तथा लालकवि कृत 'गौरीपरिणय' आदि कृतियां हैं। संस्कृत विश्वविद्यालय से कीर्तनियां नाटकों का प्रकाशन हुआ है।

कीर्तनियां नाटकों में ललित गीतों का विनियोग प्रेक्षणीय है। इनके गायन में भावानरूप रागों का प्रयोग किया जाता है। प्रमुखतः मिलन विरह तथा प्राकृतिक वातावरण के वर्णन क्रम में इन गीतों की मीमांसा होती है। रूप वर्णन परक गीतों का भी बाहुल्य है।

लगभग सोलह मात्राओं तथा तीन तालों में विवाह गीतों की प्रस्तुति अतीव आह्लाद युक्त प्रतीत होती है।

शरद् सुधाकर मण्डल मण्डन खण्डन वदन विकास।
अधरे बिलाइछ श्याम मनोहर चित्त चोरायानि हास।
तन अबुलेपन घन-घन चन्दन मृगमद कुंकुम पंक
आलिकुल चुंबित भवनि बिलंबित वन वनमाल विटंक।।[5]

प्रस्तुत गीत की सांगीतिक छटा सर्वथा विचारणीय है। इन पंक्तियों में श्रृंगाररस, माधुर्यगुण, वैदमीरीति तथा उपनागरिक्ता वृति के अनुरूप रागानुसंधान विहित है। जैजैवन्ती तथा कल्याण राग के विनियोग के द्वारा अप्रतिमनाद सृष्टि किया गया है।

यहां यह विचारणीय है कि कीर्तनियां नाटकों की परंपरा अद्यावधि विद्यमान है। रासविषयक नाटकों के गीत सांगीतिक सामर्थ से पूर्ण है। इसी प्रकार 'श्री सीताराम विवाह' की नाट्य प्रस्तुति भी दृष्टिगत होती है।

इस क्रम में श्री मोदलता, श्री स्नेहलता के पदों का गायन किया जाता है। श्री सीताराम विबाहावसर पर 'डोमकछ' लीला होती है। मिथिला का डोम दुलही सरकार की जूठन प्राप्त करना चाहते है। डोमिन दुलहा को देखकर मोहित हो जाती है। कह गाती है -

तो पै मैं बारी संवरिया ए दुलहा
तो पै बारी संवरिया।
सिर पै चीर कमर परबीरा
ओढे गुलाकी चदरिया
गेले बिच हीरा, चमत मुख बीड़ा
बिहंसत करै कहरिया।
ए दुलहा तो पै मैं बारी सवरिया।[6]

इन पंक्तियों में लोकधुनों के सामिप्य ही विद्यमान है।

डॉ. कृष्णचन्द्र झा मयंक मधुररस एवं मधुरोपासना के विशेषज्ञ माने जाते हैं। इनके द्वारा विरचित मधुराम्वापन्न गीतों की प्रस्तुति भी विवाह नाटक में किया जाता है।[7]

इन्होंने संस्कृत, ब्रजी, हिन्दी तथा मैथिली भाषाओं में विविध गीतों की रचना द्वारा सांगीतिक सुषमा की सृष्टि की है।

कीर्तनियां नाटको के गीत रामकृष्ण लीला परक हैं। शिवविवाह लीला परक गीतों की संगीतधार्मिता भी विचारणीय है। वस्तुतः संगीतकला के वादन गायन एवं नर्तन की माधुरी के अन्वेषण क्रम में इन गीतों को उदाहृत किया जाना, अतीव आह्लादकारी प्रतीत होता है। रासलीला और विवाहलीला नाटकीय ढंग से प्रस्तुत की जाती है, जिनमें गीतों का प्रयोग ध्रुपद धमार और ख्याल शैलियों में हुआ है।

कीर्तनियां नाटकों के विरह गीत भी आशावादी से पूर्ण है। प्रिय मिलन की बलवती आह्वान से पूर्ण इन गीतों की प्रभावान्विति भी विचारणीय है। इन नाटकों में विद्यापति के गीतों का भी प्रयोग हुआ है।[8]

लय, तान, गमक, मींड़, मूर्च्छना आदि सांगीतिक तत्वों की दृष्टि से इन नाट्यकृतियों के गीतों की संप्रेषणीयता भी विचार योग्य हो जाती है। संगीत कला की महती प्रशंसा की गई है। गायकों की साधना से इस कला के उत्कर्ष का प्राकट्य होता है। मैथिली कीर्तनियां नाटकों में वैदिक धुनों के अनुरूप लोकधुनों का विनियोग दर्शनीय है। कहा जाता है कि मिथिला के पारंपरिक गीतों की लय व्यवस्था सामवेदानुकूल है। हिकर, प्रस्ताव छंदलंकार आदि सामवेद-गायन की पद्धतियों के रूप में परिकथित है। प्रकृष्टतम पद्धति का नाम उद्गीथ (उत + गीथा = उच्चगायन) है। यही प्रणव है प्रभाव से ही सात स्वरों - सा रे ग म प ध नि का विस्तार हुआ है।

Scanned with OKEN Scanner

स्वर में ही ईश्वर का निवास है। इस प्रकार ईश्वरीय संगीत ही सर्वोपरि है। श्रुतिभावती ईश्वर की संगीत सभा का आमंत्रण देती है।[9]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कीर्तनियां नाटकों की सांगीतिक चेतना दिव्यानन्द को सृष्ट कर श्रेय को समंजित करती है।

संदर्भ :

1. *अंतरिक्ष के अन्तस में कल-कल बहती स्वर की धारा।*
   प्राण प्रसविनी ने झरणी को धन्य किया गुण विस्तारण
   स्वर सौरभ से कण-कण पूरित जगी चेतना खुशियां छाई।
   पुलकित प्राण हुए हैं मेरे नादब्रह्म ने ज्योति जगाई।
   मधुमंदाकिनी -डॉ. कृष्णपंत झा 'मयंक'
2. नेह सं. - वेदार्थपारिगीत - 27
3. *कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सव रूप शीलं*
   श्रुत्वा तत्क्वगितवेणविचित्रगीतम्।
   देव्योविमानगतया स्मरनुन्नसाराः
   भ्रश्यत् प्रसूनकबरी
   मुमुहुर्विनीव्याः।
   श्रीमद्भागवत - 10-5
4. मिथिलामयंकमाधुरो - 76 त्वं विष्णुः उसगायो नमस्य
5. कृष्णकेलिमाला में प्रयुक्त गीत - 7
6. मैथिली विवाह पदावली - 67
7. डॉ. मयंक का झूलन विषयक एवं गीत
   चितचोरवा की री लाग झूलनमा।
   सुभग बाग, डोल लाग
   अलियन को भाग जाग
   छवि निहार सानुराग
   सिर-सिर समीर कमला कूलनमा।
   चितचोरवा कारी लाग झूलनमा।
   पड़त बूंद, नयन मूंद
   दामिनी धरान कूद
   बढ़त राति यथा सूद
   बाजूबन्द बाजि-बाजि खूलनमा।
   —जुल्फें जुसुम गहर की भीनी -17
8. *विद्यापति के गीत हमें कल्ले सूने*
   अनन्तकी और नहीं धकेलते।
   अन्ततः ये आम्बरी अभिव्यक्ति से अभिव्यक्त हो उठते हैं।
   - विद्यापति के सौ. गीत नागार्जुन-57
9. *आमंत्रण संगीत सभा*
   अतिशय प्रिय सुखदायी।
   गाता जीव, राग से मोहित
   सागर पड़ा दिखाई।।
   - मधुमंदाकिनी डॉ. मयंक - 13

Scanned with OKEN Scanner

संगीत के विकास में विज्ञान का महत्व

डॉ. रेखा कुमारी

बीसवीं शताब्दी को विज्ञान एवं तकनीकि का युग कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। इस शती में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में त्वरित गति से हुए परिवर्तनों को स्पष्ट देखा जा सकता है। देश की स्वतंत्रता के फलस्वरूप राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए किंतु वैज्ञानिक के कारण हुए परिवर्तन को इस शती की महान देन कहा जाएगा।

आज हम समाज का आधुनिक जनतांत्रिक रूपांतर होते देख रहे हैं जिसके फलस्वरूप सर्वथा नवीन गतिमानता, सर्वथा नवीन धारणाएं जीवन के विविध क्षेत्रों में चिंतन की सर्वथा नवीन पद्धतियां प्रकट हो रही है जिसका बहुत कुछ श्रेय वैज्ञानिक प्रगति को दिया जा सकता है।

वैज्ञानिकता ने जहां एक ओर मनुष्य के जीवन के संभावित सामान्य पक्षों को प्रभावित किया वहीं भारतीय संस्कृति एवं कला भी उसके प्रभाव से अछूती न रही। कारण संगीत का क्षेत्र भी प्रभावित हुआ। संगीत के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रभाव के कारण प्रचार-प्रसार के साधन, मुद्रण प्रणाली की सुविधा, अनेक वैज्ञानिक उपकरण जैसे ग्रामोफोन, माइक्रोफोन (आडियो एम्पलीफायर) आकाशवाणी, कैसेट्स, टेपरिकार्डर, टेलीविजन, विडियो सिन्थेसाइजर और काम्पैक्ट डिस्क आदि के सम्मिलन से संगीत के शास्त्र एवं क्रियात्मक दोनों पक्षों को समृद्ध बनाने में अत्यंत सहयोग मिला, जिससे संगीत की शिक्षा प्रदर्शन सभी कुछ प्रभावित हुए तथा संगीत कला घटनाओं के सीमित दायरे से निकलकर जनसाधारण तक पहुंची।

शास्त्रीय संगीत के विकास में विज्ञान और वैज्ञानिक उपकरण की महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई पड़ती है। वैज्ञानिक उपकरण के प्रयोग यथा ग्रामोफोन, टेपरिकार्डर, वैज्ञानिक सांगीतिक वाद्य के अतिरिक्त कम्प्यूटर का भी योगदान महत्वपूर्ण होता जा रहा है।

संगीत के साथ-साथ कंप्यूटर की छात्रा होने के कारण मुख्यतः कंप्यूटर पद्धति का संगीत कला पर होने वाले प्रभाव की ओर इस शोध आलेख को केन्द्रित करती हूं।

कंप्यूटर पद्धति का संगीत कला पर प्रभाव बीसवीं शताब्दी के आखिरी दो शतकों में कंप्यूटर का अभूतपूर्व विकास हुआ। इनका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। भारतीय संगीत पर भी इनका प्रभाव दो तरह से परिलक्षित होता है जो इस प्रकार है - (क) संगीत की ध्वनि का विश्लेषण (ख) संगीत की ध्वनि का सहयोग। संगीत को कंप्यूटर से जोड़ने के लिए एक ध्वनि कार्ड को प्रयोग में लाया जाता है। ध्वनि के संकेत पहले माइक्रोफोन की सहायता से विद्युत संकेतों में बदलकर इस कार्ड को दिए जाते हैं। एक एडीसी द्वारा इसको एक सेकेण्ड में 40,000 बार की दर से नापकर एक संख्याओं की एक श्रेणी बना दी जाती है। ये संख्याएं 16 या ज्यादा बाईनरी अंकों में होती है। एक सेकेण्ड में 6 लाख से अधिक बाईनरी अंकों की

संगीत शिक्षिका, झंझारपुर

Scanned with OKEN Scanner

श्रेणी को कुछ तरीकों से कुछ कम करके कंप्यूटर के डिस्क पर भरा जाता है। सीडी रोम ड्राइव में भी कुछ इसी तरह की विधि से ध्वनि या संगीत को एक बाईनरी अंकों की श्रेणी के रूप में भरा जाता है। इस अंक श्रेणी को इसकी उल्टी प्रक्रिया से दुबारा ध्वनि के रूप में बदलकर सुना जा सकता है। ध्वनि कार्ड की सहायता से ये दोनों क्रियाएं सम्पन्न हो सकती है।

कंप्यूटर की सहायता से संगीत की ध्वनि के विश्लेषण हेतु इसी अंक श्रेणी पर कुछ गणितीय कार्य किये जाते है। इससे सांगीतिक ध्वनि की आवृति, तराना आदि गुण नापे जा सकते हैं। कंप्यूटर में जटिल प्रोग्राम की सहायता से इनके अलावा संगीत की धुन एवं राग भी पहचाने जा सकते हैं और सूक्ष्म से सूक्ष्म त्रुटियां भी मालूम कर सकते हैं। कंप्यूटर द्वारा नापने की शुद्धता बहुत अधिक है। कंप्यूटर की सहायता से संगीत की धुन भी उत्पन्न की जा सकती है। भौतिक प्रयोगशाला अहमदाबाद के निदेशक प्रो. देवेन्द्र लाल ने कंप्यूटर की मदद से संगीत तैयार किया हैं कई विदेशी फिल्मों में भी कंप्यूटर संगीत है। 'इल्टिनाक्स टाइम विंड एक्स' और 'स्टारवार' जैसी फिल्मों में भी यही संगीत है। कई ध्वनि प्रकाश भी कंप्यूटर की मदद से पैदा किए गए हैं। कंप्यूटर की सहायता से म्यूजिक सिंथेसाइजर की तरह अति शुद्धता के साथ किसी भी धुन को बजाया जा सकता है। इस ध्वनि के आवर्तकों को इच्छानुसार बदलकर किसी भी वाद्ययंत्र की ध्वनि उत्पन्न कर सकते है। अमेरिका के 'बैल टेलीफोन लेबोरेटरी' में पूरे ऑर्केस्ट्रा के संगीत को कंप्यूटर से उत्पन्न किया गया। इतना ही नहीं यहां के वैज्ञानिकों ने कुछ इस तरह की ध्वनि का संगीत उत्पन्न किया जो मधुर भी है और जो कि अब तक ज्ञात किसी भी वाद्ययंत्र से उत्पन्न नहीं हो सकता है। इन तरीकों से मनुष्य की आवाज जैसी ध्वनि को भी उत्पन्न किया जा सकता है।

कंप्यूटर की सहायता से ध्वनि ही नहीं बल्कि संगीत की धुनों और रागों की रचना भी की जा सकती है। इस तरह की सहायता से कई धुनों को जोड़कर नए-नए राग बना सकते है तथा इस विधि से नए रागों का अविष्कार भी कर सकते हैं। कंप्यूटर से उत्पन्न ध्वनि की धुन अतिसूक्ष्म होने के बावजूद जन साधारण को पसंद नहीं आती एक कलाकार द्वारा उत्पन्न किए हुए संगीत के मुकाबले कंप्यूटर का संगीत श्रोताओं को बेजान सा प्रतीत होता है। लेकिन ध्वनि विश्लेषण की क्रिया में कंप्यूटर की शुद्धता अत्यधिक है। कुछ प्रयोग जो हिन्दुस्तानी संगीत पर किए गए वह निम्नानुसार हैं डागर बंधुओं के निर्देशन में श्री बर्नाडबैल ने संगीत की तारता नापने का कंप्यूटर द्वारा चलित एक यंत्र का निर्माण किया है, जिसे उन्होने 'मैलोडिक मूवमेंट एनालाइजर' एम.एम.आई. का नाम दिया है। इस यंत्र की सहायता से ध्वनि की तारता व समय के ग्राफ खींचे जा सकते हैं, जिन्हें संगीत के मेलोग्राफ कहते हैं। प्रो. एच.वी. मोडक ने जो मुंबई में नेशनल सेंटर फॉर परफॉर्मिंग आर्ट्स में प्रोफेसर के पद पर कार्य कर रहे हैं ने सन् 1970 ई. में एक ऑटोमैटिक म्यूजिकल यंत्र बनाया, जो संगीत की आवृति व तीव्रता को निर्धारित कर सके। इन्होंने भी तानपुरा व अन्य वाद्यों पर कार्य किया है। आज के माइक्रोकंप्यूटर की सहायता से बने यंत्र शुद्ध व अधिक उपयोगी विवरण संगीत की धुन के बारे में देते हैं और इस दिशा में अन्वेषण में अधिक उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

संदर्भ :

1. संगीत मासिक पत्रिका, अगस्त 1985, पृ.33
2. K.R. Anantha Narayan, Computer and Music-Journal of the Indian Musico-logical society, vol. 10 Nos. 1 and 2, March to June 1979, pp. 23-30
3. John Sundberg, synthesizing Music : Some current research in music accoustics - Journal of Accoustical society of Indian, vol. XVII, No. 324, pp. 31-40, Dec. 1989
4. Mark Levy, Intonation in North Indian Music, New Delhi, 1982, Biblia Impex.
5. Bernard Bel, Pitch perception and pitch extraction in Melodic Music, Ister News, vol. Nos. 3-4, January 1985, pp. 54-59

Scanned with OKEN Scanner

6. S.S. Rao and Dwigendra B.Biswas, Aesthetics of Hindustani Music : An Accoustical study Internatioanal Conference. "Mnsiqueet Assistance Information" Marseittc, 3-6 Oct. 1990
7. Asken Felta, "Measurement of Bow Motion and Bow Force in Violin Playing", Journal of Accustic Society of America, vol. 80, No. 4, pp. 1007-015-1986.
8. Rangan Sen Gupta, B.M. Benergee, Sunita Sen Gupta and Deepali Nag, "Tonal Qualities of the Indian Tanpura", Proc. Stockhan - Music Acoustics Conference, vol. II, pp. 333-343, 1983
9. B.M. Benergee, "Research on Musical Acoustics in sangeet research academy", Journal of the Acoustical Society of India, vol. xvii, No. 384, pp. 25-27, Dec. 1989
10. H.V. Modak, "Automatic Musical Intrument - In Aid of Research in Indian Music", Sangeet Natak, vol. 17, 1970.

Scanned with OKEN Scanner

मिथिला के विवाह गीतों की प्रासंगिकता

निशि कुमारी

हिन्दू समाज दर्शन में 'संस्कार' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है उसका पूर्ण रूप से उपयुक्त आशय स्पष्ट करनेवाला कोई विशिष्ट शब्द आंग्ल भाषा में उपलब्ध नहीं है। सामान्यतः संस्कारों को व्यक्त करने के लिए ceremony, right and sacrament आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। हिन्दुओं में संस्कार अत्यंत विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक हिन्दू का संपूर्ण जीवन विभिन्न संस्कारों के द्वारा पवित्र होता है। हर स्तर पर जीवन के भावी चरण का कर्तव्य बोध करानेवाले संस्कारों के पीछे धार्मिक पवित्रता तथा सामाजिक कर्तव्य परायणता के साथ साथ व्यक्तिगत जीवन की सार्थकता भी निहित हैं। यद्यपि मुसलमानों में भी 'सुन्नत' तथा ईसाईयों में 'वाप्तिस्था' आदि संस्कार होते हैं। किन्तु हिन्दू संस्कारों का एक विशिष्ट अर्थ और महत्व है।

संस्कार शब्द संस्कृत भाषा से उत्पन्न होकर कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। भिन्न-भिन्न शब्दों के संयोग में इस शब्द का अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से गतिशील रहा हैं वास्तव में संस्कार उस धार्मिक कृत्य अथवा अनुष्ठान को कहते हैं जो मनुष्य की शुद्धि तथा उसके, शारीरिक मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किया जाता है। इस प्रकार के अनुष्ठानों का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को समाज का योग्य तथा उन्नत सदस्य बनना होता है। हिन्दुओं में विवाह भी एक अनुष्ठान है और इस प्रकार गाये जानेवाले गीत को अगर हम अनुष्ठानिक कहते हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं मानी जानी चाहिए। राजबलि पाण्डेय ने अपनी किताब में हिन्दु संस्कार की विस्तृत विवेचना करते हुए कहा है- ''हिन्दू संस्कारों में अनेक धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट है जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कारहीन होकर, संस्कारित व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, पूर्णता और शुद्धि भी है।''[1]

साहित्यिक दृष्टि से संस्कार शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग, शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण संबंधी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण शोभा आभूषण, प्रभाव, स्वरूप स्वभाव क्रिया, छाप स्मरण शक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव, शुद्धि-क्रिया, धार्मिक विधि-विधान, अभिषेक विचार भावना धारणा कार्य का परिणाम क्रिया की विशेषता आदि अर्थों में हुआ है।[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि संस्कार धार्मिक आधार पर किये जानेवाले उन अनुष्ठानों से संबंधित है जो व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास और शुद्धि के लिए जन्म से मृत्यु तक समयान्तर से पूर्ण किये जाते हैं। हिन्दुत्व का व्यक्तित्व आयु के विभिन्न स्तरों पर संस्कारों से परिशुद्ध होकर क्रमिक विकास करता है।[3]

वेदादि विद्या से युक्त शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से पुष्ट ब्रह्मचारी का सुयोग्य कन्या के साथ दाम्पत्य जीवन से बंध जाना ही विवाह संस्कार है। पुरूष नक्षत्र तथा शुभ मुहुर्त का विचार कर यह संस्कार किया जाता है। विषम गोत्र के वर कन्या के गुणों स्वभावों एवं क्षमताओं का ध्यान करके ही यह संस्कार किया जाता है। विवाह आठ प्रकार के है

शोध छात्रा, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

और इन आठों में चार प्रकार के विवाहों को प्रमुखता दी गयी है। जो शिष्ट वर्णों के लिए उपयुक्त माने गये हैं। इन विवाहों में वर का संस्कार करके यथाशक्ति वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या का दान किया जाता है। अग्नि की साक्षी करके यज्ञ करके यज्ञ करते हुए यह संस्कार संपन्न किया जाता है। विवाह के अनुसार दाम्पत्य सूत्र में बंधने वाले स्त्री-पुरूष जीवन भर विभिन्न नियमों का पालन करते हुए, धर्मानुकूल गार्हस्थय जीवन बिताने की प्रतिज्ञा करते हैं। पांच महायज्ञों को पूर्ण करते हुए धर्माचरण करनेवाला सदगृहस्थ ही मोक्ष का अधिकारी माना गया है। विवाह संस्कार तीनों ऋणों से उतीर्ण होने का साधन है। यह संस्कार व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। संस्कार व्यक्ति को समाजिक जीवन के प्रत्येक प्रमुख चरण प्रारंभ करते समय एक विशेष शिक्षा देते हैं। ये वे अनुष्ठान है जो मनुष्य को उसके कर्तव्यों का ज्ञान कराते हैं। तथा उसके द्वारा पूर्ण किये जानेवाली अपेक्षित सामाजिक क्रियाओं के लिए उसे प्रस्तुत करते हैं। सामाजिक जिम्मेदारियों को उसे अवगत कराते हैं तथा उनके समक्ष उन स्थितियों से संबंधित कार्यों के विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। संस्कारों से व्यक्ति का जीवन नियमवद्ध होता है। संस्कार निश्चित योजना के अनुसार मानव जीवन को सामाजिक व्यवस्था के साथ सामन्जस्य कराते हुए मोक्ष की ओर ले जाने का काम करता है। आज के युग में संस्कारों के स्वरूप विकृत हो जाने तथा उनमें अनेकों पाखंडपूर्ण क्रियाओं के समावेश हो जाने से उनका महत्व कम हो गया है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि संस्कार मानव जीवन को निर्मल और परिष्कृत करके व्यक्तित्व के क्रमिक विकास में सहायता करता है। संस्कारों के द्वारा भौतिक तथा आध्यात्मिक आकांक्षाओं को गति प्राप्त होता है और मनुष्य जटिल तथा समस्याओं से परिपूर्ण संसार सें शांति पूर्वक सरल मुक्ति के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर होता है।

संस्कार जीवन का प्रदर्शक है जो हमें अनुकूलित और संयमित जीवन व्यतीत करने की सत्प्रेरणा प्रति क्षण प्रदान करता है। संस्कारों के द्वारा ही जीवन में नियमितता तथा व्यापकता आती है। वास्तव में हमारी संस्कृति का मुख्य ध्येय है मनुष्य के विचारों का परिष्कार करना। परिष्कार करने हेतु हिन्दू धर्म में विशेषतः संस्कारों का समावेश है। जो जीवन के प्रथम चरण से आरंभ होते हैं और अंत तक चलते रहते हैं। मनुस्मृति में जीवन यापन की रीति में दीक्षित होने के लिए संस्कार आवश्यक माने गए हैं। सुसंस्कृत न होने पर मनुष्य के हो जाने की बात भी कही गयी है।[4]

1. संस्कारात्मक गीतों के माध्यम से संस्कार का संरक्षण : प्रत्येक संस्कार के साथ गीत संबद्ध है, और वास्तव में संस्कार गीत के कारण ही आज बहुत संस्कार जीवित है। जब तक ये संस्कार से संबंधित गीतों को लोकगीतों की श्रेणी में रखा जा सकता है। भले ही सामाजिक व्यवहार में इन संस्कारों का प्रचलन समाप्त हो जाए, परंतु इन गीतों के माध्यम से समाजिकों के सामने कुछ न कुछ संस्कारों की रूपरेखा रहेगी ही। संस्कार गीत भूले-भटके मनुष्य को याद दिलाते रहेंगे कि हम पूर्व में क्या थे और क्या हो गए।

इन संस्कार गीतों के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि ये गीत विभिन्न अवसरों पर समवेत रूप में गाये जाते हैं। इसके कारण उन संस्कारों की पवित्रता और महत्ता को चार चांद लग जाते हैं। इसलिए इसमें रस है भाव प्रवणता है विचारोत्तोजकता है। अहलादित एवं विभोर कर देने की अद्‌भुत क्षमता है। सारे के सारे गीत एक विचित्र प्रकार के रसमयता से ओत-प्रोत है।[5]

संस्कार से ही संस्कृति बनती है। संस्कार की परिष्कृत परिणति ही संस्कृति है, और इन संस्कार गीतों को सुनकर किसी भी संस्कृति को जाना जा सकता है। जीवन में संस्कारों का महत्व रहा है और आज भी सामान्य जीवन में संस्कार का महत्व है। इन संस्कारों को जीवन प्रदान करने वाले तथा उन्हें सरस बनाने वाले संस्कार गीतों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

मिथिला के संस्कार गीतों में लोकगीत की आत्मा बसती है। लोकगीतों की मनोहर फुलवाड़ी से यदि संस्कार गीत को निकाल दिया जाए तो संभवतः लोकगीत वीरान नजर आएगा। यही कारण है कि संस्कार गीतों में लोक गीत की समस्त विशेषताएं वर्तमान है। संस्कार गीत मांगलिक गीत है। मृत्यु

Scanned with OKEN Scanner

संस्कार को छोड़कर अन्य सभी संस्कार आनंदोत्सव के रूप में मनाये जाते है। मिथिला या यों कहें संपूर्ण उत्तर बिहार में मृत्युगीत नहीं होते हैं। मृत्यु के अवसाद को मूक एवं करूण भाव से ही सहे जाते हैं। संस्कार गीत आनंद की सहज अभिव्यक्ति और स्वभाविक रसोन्माद है। मिथिला में उमंगमय वातावरण की स्थिति में नारी कंठ से निकली स्वर लहरी शरीर में थिरकन, हृदय में झंकार एवं मस्तिष्क में चुलबुली उत्पन्न कर देता है।[6] मिथिला में प्रत्येक संस्कार के अवसर पर गीत गाना आवश्यक समझा जाता है। गीत प्रायः उसी स्थिति में नहीं गाये जाते हैं जब आस पड़ोस के किसी आप्तजन के घर उस शुभ अवसर के कुछ ही पूर्व मृत्यु जैसे कोई अप्रिय घटना घट गयी होती है। अथवा उपस्थित महिलाओं में से किसी को अवरोचित गीता आता ही नहीं है, जिसकी संभावना बहुत कम होती है। वास्तव में मिथिला की सांस्कृतिक चेतना का परिचायक उसके संस्कार गीत है।

मिथिला वास्तव में शांति पीठ है। अस्त-व्यस्त एवं उथल पुथल का जीवन व्यतीत करना यहां के लोगों के संस्कार में नही है। भूखे है फिर भी संतुष्ट हैं-यहां का आदर्श यही है। आमोद-प्रमोदमय मिथिला के इस उल्लसित जीवन पद्धतियों का ज्ञान संस्कार गीतों से ही होती है। मिथिलांचल में प्रत्येक अवसर पर उसकी विधि ही आवश्यक है। संभवतः यदि उनके साथ इन गीतों का गठबंधन न रहे तो नीरसता ही व्याप्त हो जाएगी। इस प्रकार लोकाचार को रागात्मक धरातल पर लाकर उसमें सरस गीतों का स्निगध सुवास बिखेरना ही मिथिला की ललनाओं को सुरूचिपूर्ण व्यवहार-पटुता किंवा सुलक्षण पूर्ण गृहिणीत्व का परिचायक है। मिथिला की नारियों में यह नैसर्गिक प्रतिभा विधमान है। ये अपनी सहज लोक राग से जन-मन को मंत्रमुग्ध कर देने की क्षमता रखती है। अवसर विशेष के कष्टदायक विधि जैसे मधुश्रावणी के अवसर पर टेमी से नवविवाहिता कन्या के दोनों ठेहुने को दागने वाली पीड़क विधि भी इस अवसर पर गाये जाने वाले सरस गीतों के शीतल मलहम से न तो बहुत कष्टदायक ही हो पाते हैं और न भयानक ही।[7]

संस्कार संबंधी जो गीत उपलब्ध होते हैं उसमें धर्म के किसी अंग का उल्लेख अवश्य पाया जाता है। सोहर के गीत में राजा दशरथ पिता के प्रतीक हैं और रामचन्द्र पुत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार वैवाहिक गीतों में राम वर के प्रतीक हैं तो सीता कन्या का प्रतीक। कतिपय गीतों में शिव-पार्वती की भी चर्चा है।

विवाह की प्रथाएं स्थान विशेष पर भिन्न-भिन्न हैं। एक ही राज्य की भिन्न-भिन्न जातियों में यह प्रथा विभिन्न रूपों में पायी जाती है। विवाह के गीत वर-कन्या दोनों के घर गाये जाते हैं।

वैवाहिक गीतों की आत्मा लोक-संगीत में बसती है। अतः गीतों की सुरक्षा के साथ ही साथ उनकी आत्मा (संगीत) की रक्षा करना भी बहुत ही आवश्यक कार्य है। लोक साहित्य के अध्येताओं का यह परम कर्तव्य है कि गीतों के संकलन के साथ वे उन गीतों में निहित संगीत को सुरक्षित करने के लिए उनकी स्वरलिपि भी अवश्य तैयार कर लें। इस अनुसंधान में कुछ गीतों की स्वरलिपि तैयार करने का प्रयास किया गया है। इन गीतों के संरक्षण में आधुनिकतम प्रविधियों या संसाधन की यदि कमी भी हो तो स्वरलिपि के माध्यम से इन्हें संरक्षित किया जा सकता है। जब हम किसी गीत की स्वरलिपि में बांध लेते हैं तब निश्चय ही हमें विश्वास हो जाता है कि इसमें सर्वकालिक महत्व की रक्षा हो गयी है।

बरात आगमन के गीत

आजु जनकपुर घर-घर हलचल,
चहल पहल चहुंओर हे।
आजु सुदिन शुभ लगन सियाके,
सब जन प्रेम विभोर हे।।
आवत जनि बरात अवध से
सुनि वाजन घन धोर हे।।
परम हुलासी मिथिला वासी
करत सरात संगोर हे।।
गज रथ बहु वाजि रथ
पदचर चले करोर हे।
वाहन विविध अनेक पालकी गिनत
मिलत नहीं छोन हे।।
छैल छबीले चले सराती करत

कोलाहल शोर हे।।
बजन बाजत परम सुहावन
समारोह नहि थोर हे।।
नगर नारि संग करत सुनयना
परिक्षण द्रव्य बटोर हे।
"स्नेहलता" सबके हिय लतरे
आवत अवध किशोर हे।।
यह गीत कहरवा ताल में निबद्ध है।

स्थायी

प मे ग रे	ग - ग ग	नि नि रे रे ग	रे सा स
आजु ज न	क पु र	घ र घ र ह	ल च ल
नि रे ग रे	ग - ग ग	मे घ प रे ग रे	सा -
च ह ल प	ह ऽ ल च	हूं ओ र हे च	हु ओ रहे
×	0	×	0

अंतरा

प - मे ग	मे मे ध नि	सां सां सां नि	रे सां सां
आ जु सु दि	न शु भ ल	ग न सि ऽ	या के स ब
नि नि नि ध	नि ध प -	ग ग ग ग ग	रे सा -
प्रे म वि भो	र हे ऽ ऽ	च ह ल प	ह ल ओ र
×	0	×	0

शेष अंतरा इसी प्रकार गाये जाते हैं।

सिन्दुरदान के गीत

कौने नगर के सिन्दुरिया सिन्दुर बेचे आयल हे।
आगे माइ कौने नगर के कुमारी धीया सिन्दुर बेसाहल हे।।
अवध नगर के सिन्दुरिया सिन्दुर बेचे आयल हे।
मिथिला नगर के कुमारी धिया सिन्दुर चढ़ावल हे।।
कौन रंग रसिया जे बरबा से सिन्दुर चढ़ावल हे।
सिया धीया बारी सुकुमारी से सिन्दुर संवारल हे।।
जय जय होत चहुंओर सुमन बरसावल हे।
पदमलता पद गावल सुनि सुख सुख पावल हे।।
यह गीत रूपक ताल में निबद्ध है।

स्थायी

ग ग ग - मग म ग रे ग रे - ग		
ने न ग र केऽ सि न्दु रि या सि न्दु कौ		
सा म ग ग -	सा नि ध नि	आ य ल
हे ऽ	र ऽ वे चे	

अंतरा

- प प प पनि धनि ध प - मे प प आं
ग मा ई ऽ कौने नग र के ऽ कु मा म ग रे रे
सा म ग ग ग ग - री धी या
सि न्दु र बे सा हे हे ऽ

शेष अंतरा इसी प्रकार गाये जाते हैं।

संदर्भ :

1. पांडेय पं0 राजबलि, हिन्दू संस्कार, पृ. 19
2. रघुवंशम्, 1.20
3. झा डॉ. मोहनानंद,मिथिला सांस्कृतिक परंपरा में लोकगीत, पृ. 218
4. मनुस्मृति, लोक सं. 10-12,
5. वर्मा राजारानी,संस्कार गीत, पृ. 67
6. देवी श्रीमती कामेश्वरी,मिथिला संस्कार गीत, पृ. 17
7. झा डॉ. मोहनानंद,मिथिला सांस्कृतिक परंपरा में लोकगीत, पृ. 232

Scanned with OKEN Scanner

सूरदास के पदों में संगीत

राधामोहन मिश्रा

धर्म, साहित्य और संगीत के संदर्भ में महाकवि सूरदास जी का स्थान न केवल हिन्दी भाषी क्षेत्र बल्कि संपूर्ण भारत में मध्ययुग की महान विभूतियों में अग्रगण्य है। इनका जन्म 1492 ई. में दिल्ली के निकट 'सीही' नामक ग्राम में हुआ।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूर का जीवनवृत गउ घाट पर हुई श्री बल्लभाचार्य जी की भेंट से प्रारंभ होता है। एकबार अरैल से जाते समय ही स्वामी श्री बल्लभाचार्य जी ने इन्हें पुष्टि मार्ग की दीक्षा दी। स्वामी विट्ठलनाथ जी के द्वारा स्थापित "अष्टछाप' के भी सूरदास जी अग्रणी भक्त रह चुके हैं।

सूरदास जी की शिक्षा के संदर्भ में श्री हरिराय जी ने सिर्फ इतना ही लिखा है कि वे गांव से घर कोस दूर रहकर पद-रचना में लीन रहते थे और गान-विद्या में प्रवीण थे।

प्रायः गउ घाट पर सूरदास जी अपने अनेक सेवकों के साथ रहते थे जहां स्वामी जी के रूप में इनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई।

एक बार श्री बल्लभाचार्य जी ने इन्हें श्री मद्भागवत की कथा सुनाई और विनय के पद रचने को कहा। पश्चात् सूर ने भागवत के द्वादश स्कन्ध के पदों पर पद-रचना की। इन्होंने सहसत्रावधि पद रचे जो सागर कहलाये।

इनकी पद रचना और गान विद्या की ख्याति सुनकर संगीत सम्राट तानसेन के द्वारा बुलवाकर बादशाह अकबर ने इन्हें सम्मानित किया।

इनकी प्रकाशित लगभग 25 ग्रंथों में साहित्य लहरी, सूर सारावली एवं सूरसागर प्रमुख हैं। सूरदास के काव्य का मुख्य विषय कृष्ण भक्ति है। इन्होंने कृष्ण चरित्र के उन भावात्मक स्थलों को स्पर्श किया है जिनमें उनकी अंतरात्मा की गहरी अनुभूति प्रविष्ट हो सकी है। सूरदास के काव्य से उनके बहुश्रुत अनुभव सम्पन्न विवेकशील और चिंतनशील व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। उनका हृदय गोप बालकों की भांति सरल और निष्पाप, बृजगोपियों की भांति सहज संवेदनशील प्रेम-प्रवण और माधुर्यपूर्ण तथा नन्द और यशोदा की भांति सरल विश्वासी, स्नेह कातर और आत्म बलिदान की भावना से अनुप्राणित था। साथ ही उनमें श्री कृष्ण जैसी गंभीरता और विदग्धता तथा राधा जैसी वचन चातुरी और आत्मोत्सर्गपूर्ण प्रेमविवशता थी।

उनकी प्रेम भक्तिक सख्य वात्सल्य और माधुर्य भावों का चित्रण जिन असंख्य संचारी भावों, अनगिनत घटना-प्रसंगों, बाह्य जगत, प्राकृतिक और सामाजिक के अंतः सौन्दर्य चित्रों के आश्रय से हुआ है, उनके अंतराल में उनकी गंभीर वैराग्यवृति तथा अत्यंत दीनतापूर्ण आत्मनिवेदात्मक भक्ति भावना की अन्तर्धाय सतत प्रवहवान रही है।

साथ ही उनकी स्वाभाविक वैराग्यवृति विनोदवृति एवं हास्य प्रियता उनके व्यक्तित्व की विशेषता है।

उनकी गोपियां विरह की हृदय विदारक वेदना को भी हास-परिहास के नीचे दबा सकी हैं। करूण और हास का जैसा एकरस सूर के काव्य में मिलता है अन्यत्र सर्वथा दुर्लभप्राय है।

सूर ने मानवीय मनोभावों और चित्तवृतियों को निःशेष कर दिया हैं परंतु काव्यात्मक नवरसों में सूरदास जी वात्सल्य रस के अप्रतिम कवि माने गए हैं।

शोध छात्र, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

अतः इनकी रचनाओं में 'सूरसागर' सर्वश्रेष्ठ कृति मानी गई है। श्री कृष्ण बाल माधुरी नामक प्रकाशित ग्रंथ सूरसागर के 335 पदों का ही एक संग्रहित स्वरूप है जिसमें श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं का उत्कृष्ट वर्णन है। श्री कृष्ण बाल माधुरी के पदों में चित्रात्मकता, आलंकारिता, भावात्मकता, सजीवता, प्रतिकात्मकता तथा बिम्बात्मकता पूर्ण रूप से विद्यमान है।

इस ग्रंथ में भाषा में प्रवाह बनाए रखने के लिए लय और संगति का सतत ध्यान रखा गया है। राग-रागनियों के स्वर ताल में बंधी हुई ब्रज भाषा की मधुर शब्दावली इस ग्रंथ में सरस भाव व्यंजना व्यक्त करती है। परंतु संगति के सभी तत्वों से परिपूर्ण होने के बावजूद सांगीतिक दृष्टि से यह अछूता है।

अतः श्री कृष्ण की बाल लीलाओं के विभिन्न चित्रित स्वरूपों में सांगीतिक संजीवता, भाक्तिक परिपुष्टता, मैया यशोदा के मर्माहत वात्सल्य, नन्दबाबा के स्नेहिल अनुराग, बृन्दावन की नवल बीथियों, यमुना की उज्वल धारा, यशोदा के मणीमर्कत आंगन, ग्वाल बाल के मधुरतम प्रेम और उनके क्रीड़ा एवं यमुना तट के सुरभ्यता के प्रत्यक्ष दर्शनके अतिरिक्त श्री कृष्ण के प्रसूतिगृह की लीला, पालने में झूलना और यशोदा की लोरी गाना, श्री कृष्ण के द्वारा मैया यशोदा से चंदा मांगना, छोटी-छोटी बातों पर रूठना, आंगन में चलना, ग्वालिनों के घर माखन चुराना, ग्वालों के साथ विभिन्न लीलाएं करना आदि लीलाओं से संबंधित सूरदास की कृतियों को पूर्णतः सांगीतिक पक्षीय भावात्मक संयोजन ही मेरे अन्वेषण का परम लक्ष्य है।

लोकशैली में गायन के साथ-साथ शास्त्रीय संगीत की समृद्ध शैली में इस ग्रंथ के पदों का गायन हो, क्योंकि इस ग्रंथ के सभी पद राग-रागनी में निबद्ध है।

पद

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराई कर पानि गदावत, डगमगाई धरनी धरै पैया।।
कबहुंक सुंदर बदन बिलोकति, उत् आनन्द भरि लेति बलैया।।
कबहुंक कुलदेवता मनावति, चिरधीवहुं मेरो कुंवर कन्हैया।।
कबहुंक बल को टेदि बुलावति, इहिं आंगन खेलौ दोउ मैया।।
सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रतमि बिलसत नन्द रैया।।

राग-बिलावल, ताल-तीनताल

आरोह-सा,रे,ग,म,प,ध,नी,सां
अवरोह-सां नी,ध,प,म,ग,रे,सा।

स्वर लिपि

(स्थाई)

1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 141516
			गप नीध नी
			सिख वऽ ति
सां - - -	नी रें सां नी	धप मग मरे	
च ल न य	शो ऽ दा ऽ	मैऽ याऽ ऽऽ	
×	2	0	3

अंतरा

सां - - -	गं रें गं मं	गं रें सां सां	नी रें सां नी
ऽ ई क र	पा ऽ नि ग	हा ऽ व त	ड ग ऽ म
धप मग मरे	ग म प ग	म रे सा सा	
गाई धऽ रऽ	नी ऽ ध रे	पै ऽ या ऽ	
×	2	0	3

उपर्युक्त एक अंतरे के जैसी ही अन्य अंतरों की भी स्वरलिपि होगी।

लोकधुन पर आधारित कहरवा ताल

मैया, हौ न चरै हौ गाई।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों,
मेरे पाई पिराई।।
जौ न पत्याहि पूछि बल दाउहिं,
अपनी सौंह दिवाई।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालिनि,
गारी देति दिसाई।।

Scanned with OKEN Scanner

मैं पठवति अपने लरिका कौ,
आवै मन बहराई।
सूर श्याम मेरो अति बालक,
मारत ताहि रिंगाई।।
स्वरलिपि ताल-कहरवा

(स्थाई)

1-2-3-4	5-6-7-8
ध ध म ध	प ध प म
मै ऽ या ऽ	हौं ऽ न च
रे रे प म	म - - -
रे ऽ हौं ऽ	गा ऽ ई ऽ
सा सा रे रे	रे - - -
सि ग रे ऽ	ग्वा ऽ ल धि
प म रे सा	सा - - -
रा ऽ व त	मो ऽ सों ऽ
नी - - -	नी रें सां नी
मे ऽ रे ऽ	पा ऽ इ पि
ध ध ध ध	ध - - म
रा ऽ ई ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
×	0

अंतरा

1-2-3-4	5-6-7-8
सा - - -	रे - - -
जौ ऽ न प	त्या ऽ हि पु
प म रे सा	सा - - -
ऽ छि ब ल	दा ऽ इ हिं
नी - - -	नी रें सां नी
अ प नी ऽ	सौं ऽ ह दि
ध ध ध ध	ध - - म
वा ऽ ई ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
म म ध ध	सां - - -
य ह सु नि	भा ऽ इ ज
नी - - सां	ध सां नी ध
सो ऽ दा ऽ	ग्वा ऽ लि नि
नी - - -	नी रें सां नी
गा ऽ री ऽ	दे ऽ ति रि
ध ध ध ध	ध - - म
सा ऽ ई ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
×	0

एक अंतरे जैसी ही दूसरे अंतरे की स्वरलिपि होगी।

सांगीतिक अध्ययन एवं स्वरांकन के द्वारा लोकप्रिय बनाना ही मेरा उद्देश्य है। ताकि सूरदास के पद शास्त्रीयता के धरोहर को समृद्ध रख सके एवं यह सामान्य जन को ग्राह्य हो।

Scanned with OKEN Scanner

भींडी बजार घराना मरहूम उस्ताद अमान अली खां साहब

चिंतन मनोजभाई पटेल

अमानअली खां मूलरूप से बिजनौर नामक गांव जो मुरादाबाद जिले में है, वहीं उनका जन्म 1888 में हुआ और वहीं के रहनेवाले थे। वहां अभी तक अपना घर है। खां साहब के पितामह उस्ताद दिलावर हुसैन खां मुरादाबाद में घर बनाकर बस गये। आपके चार पुत्र थे, (1) उस्ताद छज्जु खां उर्फ 'अमरशा साहब' (2) नजीर खां (3) हाजी विलायत हुसैन खां और (4) खादीम हुसैन खां। अमाल अली खां के पिता उ. छज्जु खां उर्फ अमरशा साहब थे जिनकी शिक्षा सुप्रसिद्ध उ. खां इनायत-हुसैन खां से हुई। इनायत हुसैन खां की संगीत शिक्षा प्रथम तानसेन के घराने के सुप्रसिद्ध उ. बहादुर हुसनैन खां के पास हुई। और साथ-साथ ग्वालियर के उ. हद्दू खां - हस्सू खां से हुई। छज्जु खां ने अपने दो भाई, उ. नजीर खां, खादीम हुसैन खां को स्वयं संगीत की तालीम दी। यह तीनों भाई गायन-कला एवं अन्यान्य विशिष्ट बातों में बड़े ही निष्णात् थे, इस कारण इनकी बड़ी कीर्ति फैली। ये तीनों भाई मुंबई के भींडी बाजार नामक मुहल्ले में आकर बस गए। इसलिए लोग इन्हें 'भींडी बाजार वाले' गायक के नाम से जानते थे। पं. भातखंडे जी भी स्वयं तीनों भाई के पास आकर संगीत के बारे में चर्चा करते तथा सुनते थे। उ. मम्मनखां, शमीर खां (उ. अमीर खां के पिता) महम्मद खां, कल्लन बख्श, झंडे खां, मियां जान खां और श्रीमती अंजलीबाई मालपेकर इनके शिष्य थे और उन्हीं से संगीत की तालीम ली। उ. छज्जु खां के दो पुत्र तथा एक पुत्री थी। ज्येष्ठ पुत्र का नाम फीदा अली था तथा कनिष्ठ पुत्र का नाम अमान अली खां था और पुत्री का नाम महबूबन था।

- उ. मम्मन खां (दिल्ली वाले 'मुजीद सूरसागर')
- शमीर खां (इंदौरवाले, अमीर खां के पिता)
- मुहम्मद खां, कादीर बख्श, कल्लन बख्श (छपरा)
- उ. झंडे खां (पंजाब)
- मियां जान खां (मुरादाबाद)

उ. अमानअली खां ने 18 साल तक संगीत के प्रति कोई भी रूचि नहीं बतलाई थी। परंतु किसी उस्ताद का गाना किसी महफिल में सुना तो आपको धक्का सा लगा। क्योंकि वे अपने हमजोलियों के साथ खेलकूद तथा पतंग दिन-दिनभर उड़ाने में दत्तचित्त रहा करते थे। महफिल में अपने पिताजी के साथ गये और पिताजी के कुछ शिष्यों का गाना सुना। और उस्ताद ने तथा शिष्यों ने आपको गाने के लिए कहा, इस पर इन्होंने कहा "मुझे तो कुछ नहि आता"। इस पर उस्ताद तथा शिष्यों ने कहा कि आप तो विद्वान पिता के पुत्र हैं इसलिए उनसे सीखिए और अपने में उनकी जैसी खूबी पैदाकर पिता का नाम रौशन किजिए। इस के बाद आपने पिता उ. छज्जु खां से तालीम शुरू की तथा साथ-साथ अपने चाचा उ. नजीर खां तथा खादीम हुसैन खां से भी इन दिनों आपने खूब तगड़ा रियाज किया और शास्त्रीय संगीत की दुनिया में उच्च कोटि के गायक

अध्यक्ष, गायन विभाग, जे.जी. कॉलेज ऑफ परफॉर्मिंग आर्टस, अहमदाबाद

Scanned with OKEN Scanner

के रूप में उंचा स्थान प्राप्त किया। आप पूना में रहे और वहां तीन साल तक "भीम पलासी" राग पर रियाज किया और सिद्ध किया। शास्त्रीय संगीत की विविध शैलियां जैसे कि ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी एवं तराना इन सभी में समान रूप से अधिकार पा लिया था। आपकी मधुर आवाज, स्वर लगाव पद्धति में एक नजाकत थी और एक प्रकार की चमक तथा लचक थी। स्वरों को लय के साथ लाड़-लड़ाने का, स्वर-विन्यास, नृत्य जैसी लयकारी अद्‌भुत थी। वे सिद्ध गायक तो थे ही लेकिन साथ-साथ बहुत अच्छे वाग्येकार भी थे। आप 18 घंटे बैठकर बंदिश की रचना करते थे। आप की बंदिश में शिवशक्ति, कृष्ण का वर्णन, वास्तविक तत्व ज्ञान से संबंध रखनेवाले विचार का निरूपण दिखाई देता था। शब्द के उच्चारण के प्रति बड़े ही संचित थे। भारतीय संगीत में आप जैसी बंदिश कम दिखाई देती है, सुनाई देती है। बड़ा ख्याल तथा छोटा ख्याल में दोनों में विचार परस्पर, भावानुभाव, चीजों को संगीत की भाषा में "जोड़-बंदिश" कहते हैं। आपने संस्कृत, ब्रजभाषा, हिन्दी, उर्दू आदि का भाषा अध्ययन किया तथा उन भाषा पर काबू पा लिया था।

अमान अली खां, सम के विविध प्रकार जैसे की, प्लुत सम, गुरू, लघु, अनुद्रुत तथा पलक सम इत्यादि प्रकार की व्याख्याओं को गायकी में पारिभाषित करते थे। वो ख्याल गायकी में भी बहुत प्रकार जैसे कि आरोही, अवरोही, न्यास तथा बहलावा खूब अच्छी तरह करते थे। उनके मतानुसार और उनकी संगीत की पूर्ण गायकी जो 104 प्रकार में है, वो वे गाते थे। गिरफ्त, मिसल, फंदा, गिटकरी, सूत, मींड, गमक, कणस्वर, धमाका, जरब, लटक, बहक, राग का चलन दूकेरा, तान के भी प्रकार जैसे सट्‌टा, पेचदार, मठ्‌ठातान, वक्रतान, अलंकारिक तान में वे माहिर थे और साथ-साथ इस घराने की गायकी में मुख-विलास करने की सुंदर गायन शैली तो है ही तथा हर बार नये प्रकार के सम तथा सरगम करने की पद्धति बड़ी जोरदारी से तथा आसानी से पेश करते थे।

खां साहब का अक्तूबर महीने में "भारतीय कला केन्द्र" नामक संस्था ने उन्हें दिल्ली में आमंत्रित कर उनका एक विशेष जलसा किया और उनकी विशिष्ट गायन शैली पर रसिक श्रोता इतने प्रसन्न हुए कि संस्था ने उन्हें दिल्ली में ही रखने का निश्चय किया। यह जलसा खत्म होने के बाद खां साहब ने अपनी जन्मभूमि मुरादाबाद जाने की इच्छा व्यक्त की। वहां दो-तीन महीने रहने के बाद वे वापस दिल्ली आये। वहां आप अपने भांजे के पास ही रहते थे। कुछ ही दिनों के बाद आप बीमार हुए। श्रीमती निर्मला जोशी ने उनकी दवा-दारू की अच्छी व्यवस्था की और सुविज्ञ डॉक्टरों का उपचार भी हो रहा था पर उनकी बीमारी बढ़ती गयी। और बुधवार 11 फरवरी 1953 को दिल्ली में ही न्यूमोनिया की बीमारी से देहांत हुआ और आपकी ईहलीला समाप्त हो गयी। आपके देहांत से संगीत कला की अपूरणीय क्षति हुई है, जो संभवतः कभी पूरी नहीं होगी। खां साहब अपनी चीजों में "अमर" उपनाम का उल्लेख करते गए और इस कुटुंब का कोई भी व्यक्ति जहां कोई नई चीज बांधता हो, तो उसमें "अमर" उपनाम अवश्य ही डालता। ऐसी प्रथा कायम हो गई थी। और इसी कारण खां अमान-अली खां साहब ने भी अपनी चीजों, बंदिशों में "अमर" उपनाम ही डाला।

मरहुम उ. अमान अली खां ने भारतीय संगीत को अपनी रचनाएं सीना-बसीना दी, जो आत्मा को परम शांति प्रदान करती है। वहीं मरहूम उस्ताद अमाल अली खां "अमर" हो गए। अमाल अली खां बड़े प्रेम से अपनी चीजें सिखाते थे। यह प्रथा अमान अली तक से अभी तक कायम है। उनके गंडा-बंध तथा पट शिष्य "संगीत रसराज" पं. शिवकुमार शुक्ल थे। शिवकुमार जी ने भी भारतीय संगीत को अपने घराने की विशिष्ट रचनाएं प्रिय शिष्यों को तथा अपनी अलग गायन शैली प्रदान की है।

ईश्वर हमारे ऐसे गुरूजी उ. अमान अली खां साहब तथा "संगीत रसराज" पं. शिवकुमार शुक्लाजी की आत्मा को परम शांति प्रदान करे और यही प्रार्थना करते हुए अपनी संगीत रसिकों की ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

जीवन दर्शन एवं संगीत की शास्त्रीय परंपरा

श्याम चैतन्य

प्रवृतिगत अस्तित्व से पदार्थ स्वच्छंद है तथा नियोजित व्यवसाय अवधारणा में परस्परावलंबन। सहज प्रेम की अभिव्यक्ति हो या युक्तियुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति, दुःख-सुख की अनुभूति हो या मानवीय-अमानवीय वृति-प्रवृति की अनुभूति, संगीत अपनी समग्र प्रतिभा के साथ मानव में उसके प्रवाहपूर्ण जीवन की तरह एक पूर्ण शैली बन अनादिकाल से बहता चला आ रहा है। जीवन एवं संगीत के संवादात्मक क्रमिक विकास पर जब भी हम अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तो पाते हैं कि मनुष्य अनंतकालों से जिस तरह अपने असभ्य रूप को सभ्य बनाने के लिए जागरूक होता रहा है, भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए लगातार कठिन परिश्रम करता रहा है, ठीक उसी तरह वह संगीत को भी जीवंत बनाने के लिए एवं शास्त्रीय स्वरूप में क्रमशः नवीन से नवीन शैली को प्रस्थापित करने के लिए मन के चिंतन गति विधि को भी सक्रिय करता रहा है। इसलिए हम देखते हैं कि मनुष्य ने जीवन के स्वरूप को जिस मूल्य के साथ इस प्रकृति ब्रह्माण्ड में नित प्रति स्थापित या पुनर्स्थापित करने के लिए चिंतन किया है, उसे व्यवहारिक रूप दिया है वहां संगीत भी उसी स्वरूप के साथ जीवन में गतिमान रहा है। जब भी मनुष्यों ने नैतिक भावमूल्यों को संजोने की कोशिश की, संगीत को भी जीवन से वही भाव मूल्य मिला है। आज परिस्थिति परिवर्तन ने करवट बदली, जीवन में वस्तु-क्रांति होने लगी है, यांगिकता को बल मिलने लगा है तो संगीत भी जहां-तहां इस आवेग को आलिंगन करने लगा है।

मानव के ऐतिहासिक क्रमिक विकास पर दृष्टिपात करने से उन सभी मौलिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण हो जाता है जिसका आधार लेकर मनुष्यों ने वस्तु जगत को इतना समृद्ध किया है। 'धम्म' की अनुसंधानिक परंपरा में उसने वस्तुगत विकृत अमानवीय भावों को विशुद्ध नैतिक भाव में परिवर्तित किया है। यह सत्य है कि इन परिस्थितियों को कायम करने में मनुष्यों को हजारों वर्षो तक अथक परिश्रम करना पड़ा है। लेकिन आज वह अनेकानेक उपलब्धियों के साथ अपने जीवन को व्यवस्थित ढंग से जी रहा है, संपन्नता को जान रहा है तो यह उसी चिंतन का परिणाम है जिसने इसे इस संवर्द्धित परिदृश्य तक पहुंचाया है। यह अलग बात है कि भिन्न-भिन्न विचारों में जीनेवाले मनुष्य, जीवन की किस प्रणाली में सहमति रखते हैं। स्वीकार या अस्वीकार तो व्यक्ति के अंतर्बोध को परिलक्षित करता है ताकि उसके सीमाबोध को व्यक्त करता है कि उसकी अभिरूचि किस प्रणाली में है। कोई भी प्रणाली हो, संगीत ने सबको गले लगाना सीखा है। वह तो दस्यू के साथ भी है, देव-मानवों के साथ भी, बुद्ध के दर्शन दृष्टि में भी और भौतिक वादी आचरण के साथ भी। तात्पर्य यह है कि परिस्थिति परिवर्तन के साथ ही संगीत का सनातन स्वरूप प्रवाहमान रहता है। संगीत की उपयोगिता एवं प्रयोग व्यवहार उन सभी भिन्न मानवों धाराओं के साथ है जो उसका सदुपयोग कर लें या दुरूपयोग। संगीत को अगर द्वन्द्वयुक्त शिक्षा के लिए प्रयोग किया जाए तो यह मनुष्यों की इच्छा है, निर्द्वन्द्व शिक्षा के लिए उपयोग किया जाए तो यह भी मनुष्य की ही इच्छा है। लेकिन बहुजन-हिताय में शोषणरहित, अशिक्षा रहित, उत्कट नैतिक प्रणाली के लिए संगीत की

शोधछात्र, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि. दरभंगा।

Scanned with OKEN Scanner

उपयोगिता प्रत्येक युगों की मांग रही है, जहां संगीत ने स्वयं को सुरक्षित एवं मर्यादित अनुभव किया है।

आदिकाल से संगीत अनुसंधानकर्ताओं ने संगीत के व्यवहारिक पक्षों में हो रहे नित प्रति नये-नये विकास को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सैद्धांतिक परंपरा को कायम किया, ताकि व्यवहारिक संगीत के अंतर्बोध, अंतर्तत्व, अंतर्प्रस्तार एवं अंतर्वधारणा को समय के साथ-साथ लिखा जा सके। जिस प्रकार मनुष्य को जीवन या सृष्टि के संबंध में जानने की जिज्ञासा रही है, ठीक उसी प्रकार संगीत-चिंतकों, आविष्कारकों एवं संगीत द्रष्टाओं की भी यही खोज रही है कि इस ब्रह्माण्ड में संगीत द्रष्टाओं की भी यही खोज रही है कि इस ब्रह्माण्ड में संगीत की उत्पति कैसे हुई है? संगीत का मूल तत्व क्या है? संगीत की उत्पति कैसे हुई है? संगीत का मूल तत्व क्या है? संगीत का अंतर्बोध क्या है? संगीत का अंतर्प्रस्तार क्या है? आदि अनेकानेक प्रश्न। मानव की यह खोज करने की प्रवृति ने संगीत को लोकजीवन से बढ़ाते हुए शास्त्रीय जीवन तक पहुंचाना है। शास्त्रीयता में लोक प्रवृति को सहजता के साथ स्थापित करने का भरसक प्रयास किया है। अविकसित लोकभाव को परिष्कृत करने की कोशिश की है। जीवन के वस्तुबोध, यौगिक, अबोध, नैतिक बोध को भी संगीत के विस्तार में प्रवेश कराया है। वैसे संगीत अनुसंधान को भौतिकवादी एवं आध्यात्मवादी प्रवक्ताओं ने अपने ग्रंथ के साथ गड्ड-मडड़ करने का तथा उसका श्रेय स्वयं लेने का भरसक प्रयास किया है। इस कार्य में उन्होंने अभूतपूर्व सफलता भी हासिल की है। जैसे नाट्य एवं संगीत के ग्रंथ नाट्यशास्त्र को भौतिक या आध्यात्मक सिद्धांत का सहायक ग्रंथ कहा जाना। सप्त स्वरों की अवधारणाओं को ऐसी धारणाओं के साथ जोड़ना आदि। हमें यह न भूलना होगा कि जीवन या ब्रह्माण्ड के अनेक क्षेत्र जो युगीन पूर्णत्व के साथ अपनी अपनी सीमा में संतुलित एवं निर्धारित है। जिसके पूर्णत्व को जानने के लिए अपने-अपने क्षेत्रों के अनुसंधानक निरंतर प्रयास करते रहे हैं। चाहे कला हो, साहित्य हो, गणित हो, भूगोल हो, वाणिज्य हो, विज्ञान हो याकि जीवन दर्शन हो, सभी क्षेत्र अपने में इतने मजबूत, समृद्ध तथा विस्तृत आयामों से पूर्ण एवं स्वच्छंद है कि एक क्षेत्र के अनुसंधानक दूसरे क्षेत्र को स्पर्श कर ही नहीं सकता। और अगर पूर्णत्व को समझे बिना सभी क्षेत्रों को छूने का दावा या जानने का दावा करता रहा तो उसका मासिक ब्रह्मा ही हो सकता है वह स्वयं नही। जैसे एक ही चिकित्सा प्रणाली में आंख का चिकित्सक हृदय रोग का ईलाज नहीं कर सकता है।

यह तो स्पष्ट है कि भावों एवं विचारों की सहज अभिव्यक्ति एवं जन-जन से सहज संवाद के लिए संगीत से श्रेष्ठ कोई भी माध्यम नहीं है। इसलिए सांगीतिक प्रतिभा को नजरअंदाज करना संभव नहीं है। उद्देश्य एवं संगीत का अंतर्तत्व एक तथ्य नहीं है बल्कि अलग-अलग। उद्देश्य सामाजिक संस्कृति को ध्यान में रखकर चलता है और अन्तर्तत्व निर्माण के वैज्ञानिक विधि को। प्रत्येक क्षेत्र का अन्तर्प्रयोग एक जैसा नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए श्रुतिदर्शन या श्रुतियों पर स्वरों की स्थापना या नामाकृते स्वरों को गेय सुरीले ध्वनियों पर व्यस्थित करना संगीत चिंतकों के कार्य है न कि किसी काल्पनिक सत्ताओं के। अतः निश्चितरूप से हम कह सकते हैं कि मानव जीवन के साथ ही संगीत की शास्त्रीय परंपरा मानवीय ध्वनि ग्रंथिगर्भ में सुषुप्त अवस्था में सोई रही तथा जिसकी उत्पति अनुसंधान क्रम में होती चली गई। स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, वर्ण, अलंकार तथा अन्य अन्तर्तत्वों के द्वारा वर्षो बाद 'राग' की परिकल्पना की गई तथा नाट्य प्रयोग से लेकर बड़े-बड़े उत्सवों, त्योहारों के साथ संगीत गायन प्रयोग में शास्त्रीय स्वरों के प्रयोग होते रहे। छंद बन्ध प्रयोग पर आधारित कोई भी गायन हो, जिसकी चर्चा हम प्राचीनकाल में सुनते हैं वह शास्त्रीय परंपराओं के प्रारंभिक प्रयोग थे। नंदिकेश्वर जो भरत के आचार्य थे, जिन्होंने बारह स्वरों का आधार लेकर मूर्च्छना सृष्टि के साथ सप्तक के विकास में अपना अभूतपूर्व योगदान किये, उन्हीं की श्रेष्ठ परंपरा में मतंग ने 'राग' जैसे शास्त्रीय शैलीगत शब्द को अनुसंधान किये। अष्टक को मान्यता देते हुए मध्य स्वरों की योजित धारणा को अस्पष्ट बताते हुए, पारंपरिक रागों के साथ वे

Scanned with OKEN Scanner

नये-नये रागों को सृजित किये। बारह स्वरों के साथ अष्टक की भावुक अवधारणा में मंद्र, मध्य एवं तार सप्तक हमारे समाने आये। नाट्यशास्त्र चूंकि नाट्य प्रयोग पर केन्द्रित था इसलिए संगीत की शास्त्रीय परंपरा का गेयधर्म अथवा गायन शैली के लिए अनुसंधान उनकी योजना में नहीं था। 'बृहद्देशी' जैसे महत्वपूर्ण अनुसंधानिक ग्रंथ ने आधार रूप से शास्त्रीय परंपरा की नींव रखी। ताकि आगे उस पर गायन शैली की समग्रता के साथ खड़ा किया जा सके। उसी नींव पर शारंगदेव ने भरत एवं मतंग की श्रेष्ठ परंपरा को साथ में लेकर बारहवीं शताब्दी में संगीत-रत्नाकर जैसे ग्रंथ की रचना की। लोकनाट्य पर आधारित मंचीय अभिव्यक्ति में जो भी गायन चलता रहा वह शास्त्रीय शैली के लिए प्रयोग भर था। ध्रुवा गायन हो या जाति गाायन, जिसे हम शास्त्रीय गायन शैली नहीं कह सकते हैं। क्योंकि हमारे सामने जो आज गायिकी या शास्त्रीय गायन शैली मौजूद है उनमें ध्रुवपद, धमार, बड़ाध्रुपद (ख्याल) ही अपनी समग्रता के साथ है। प्रबंध की चर्चा हम जब भी सुनते हैं तो पता चलता है कि उसका स्वरूप ध्रुपद की तरह रहा था जो बाद में सहज शैली की उपस्थापन में अपने नाम को खोते हुए ध्रुपद में ही अपने अस्तित्व को बरकरार रखा। कहा जाता है कि प्रबंध में बंदिशें संस्कृत में होती थीं। जो भी हो यथार्थ परंतु ऐतिहासिक प्रारूप की खोज वर्तमान से ही होती है इसलिए ध्रुवपद की समग्र शैली ही ऐतिहासिक नींव है जिस पर ख्याल की खोज की गई। ध्रुपद की शैली खड़ी शैली है जिसमें भावुकता को सहजता के साथ रखना संभव नहीं है। इसलिए बंडा ध्रुपद ने सामाजिक परिदृश्य पर अपना अमिट छाप छोड़ा। राग वही है फर्क है ताल में, चलन में, बंदिश में, विस्तार व प्रस्तार में। ध्रुपद की शैली अत्याधिक अनुशासनिक है। उसमें बहकने भटकने, फिरने, तैरने, उड़ने से लेकर अन्यान्य अवस्था में अविरलता का अभाव है। जिसे बंडा ध्रुपद (ख्याल) अभिव्यक्त करने में सक्षम है। यही कारण है कि ख्याले ने आज जन-जन को प्रभाव में ले आया है। खोज का जिक्र या अनुसंधानक के विषय में जो भी तथ्य हमारे सामने हैं वह इतना विवादास्पद है कि संभव नहीं है मेरे लिए कहना कि अमुक व्यक्ति ने इसकी खोज की। क्योंकि एक ही व्यक्ति सितार, कव्वाली, ... गायन शैली की खोज में दिख रहे हैं जो संभव है हो नहीं। एक खोज तो सधी नहीं और अनेक खोजों को अंजाम देने में सफल होते चले गए वो। यह और कुछ नहीं बल्कि संप्रदाय का प्रभाव था जिसमें कारण अपने जातीय शासन व शासकों के द्वारा इतिहास में एक ही व्यक्ति सारे अनुसंधान में छुपे हुए बढ़ते चले गए।

आधुनिक विज्ञान के प्रयोग से यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य के मन मस्तिष्क में वह स्थल मौजूद है जिसमें सोचने, विचारने, आविष्कार करने, महसूस करने, परिस्थिति को आंकने, दृष्टिकोण को निर्धारित करने, बिखरे भाव एवं विचार को नियंत्रित करने, वस्तुजगत को परिवर्तित करने, निर्मित करने आदि की क्षमताएं हैं। मानव में इस मन मस्तिष्क की अंतक्रांति ने भाषाओं के साथ ही अनेक क्षेत्रों में नये-नये प्रयोग को जन्म देती रही है तथा परिष्कृत व समृद्ध होने तक मानव के साथ-साथ गतिशील रही है।

सदियों से संगीत, मानव जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकता रही है। वह चाहे आंतरिक उद्गारों यथा - हर्ष, विस्मय, उमंग, लालसा, मौजमस्ती आदि को अभिव्यक्त करने के लिए हो, प्रकृति सौन्दर्य या जीवन सौन्दर्य की प्रस्तुति के लिए हो, संघर्ष से उत्पन्न भय, रोष, शोक या थकानों की अभिव्यक्ति के लिए हो, मानव से मानव के संवाद के लिए हो, बौद्धिक मानकों के द्वारा सर्जित दृष्टि विचार के प्रसार के लिए हो या नाट्य की भूमिका के लिए हो, संगीत हमेशा से जीवन परिस्थितियों के साथ रहा है। अतः हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मनुष्यों की खोज ने जहां शास्त्रीय संगीत का अनुसंधान किया वहीं लोकसंगीत को भी अपने प्रभाव से प्रभावित करता रहा।

Scanned with OKEN Scanner

ऋतु एवं राग

कामेश्वर कुमार

भारत में ऋतुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यह साहित्य, संगीत एवं कला को समान रूप से प्रभावित करती है। रीतिकालीन साहित्य एवं मध्ययुगीन चित्रकला में कई ऋतुओं का सजीव चित्रांकन हुआ है। इतना ही नहीं ऋतुओं के इस सौन्दर्य की छटा से संगीत जगत भी प्रभावित हुआ है। इससे भी प्रेरणा प्राप्त हुई है। उदाहरण स्वरूप बसंत, मेघ एवं मल्हार आदि राग इसी की उपज है। बसंत ऋतु से बसंत राग और वर्षा ऋतु से मेघ मल्हार, मियां मल्हार आदि रागों के स्वर चित्र अंकित किये गए हैं। काव्यकला, संगीत कला एवं चित्रकला में सभी ऋतुओं पर पर्याप्त रचनाएं दृष्टिगत होती है। इन गीतो में श्रृंगारिक भावनाओं और करूण रस की सफल अभिव्यक्ति होती है। वर्षाकालीन गीतों में मल्हार, झूला तथा कजरी आदि गीतों को सुनकर मानव मन सहज ही आनन्द विभोर हो जाते हैं।

पावस ऋतु की श्याम-श्वेत घटाओं से आच्छादित आकाश से प्रस्फुटित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का रिमझिम-रिमझिम राग सुनते ही अमराइयों में कोयल कूक उठती है, पपीहे गा उठते हैं और मोर नाचने लगते हैं। हरे-भरे लहलहाते खेतों को देखकर किसान आनंद विभोर होकर चिरपरिचित गीतों के बोल को गुनगुना उठता है। इन चेतनामय घड़ियों में प्रत्येक जीवधारियों पर संगीत का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार खेतों और मैदानों में फैली हरियाली के वातावरण में गांव-गांव और गली-गली में झूले के गीत जिन्हें ग्रामीण भाषा में कजरी और मल्हार भी बोलते हैं, गूंजते हैं।

राग जगत्, में जब हम मल्हार राग की खोज करते हैं तो हम पाते हैं कि मल्हार राग का उल्लेख मल्हार, मलारी, मल्हारी तथा मल्लार राग के रूप में मिलता है। किन्तु सर्वप्रथम 'मल्लार' का उल्लेख मतंग के 'वृहदेशी' ग्रंथ में है।

मल्हार अंग में 'मध्यम' का प्राबल्य और उस पर न्यास, मध्यम ऋषभ की मींड, ऋषभ पंचम की संगति होती है। गंधार और निषाद प्रायः दुर्बल होते हैं यह लगभग सभी ग्रंथों में पाया जाता है।

गुणीजनों के विचार में म-रे और रे-प ये दोनों स्वर संगतियां मल्हार अंग की पहचान है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'म-रे' मींड से ही होना चाहिए। क्योंकि कुछ मल्हारों में तो यह मींड से है तथा कुछ में बिना मींड के। अर्थात् हम दोनों प्रकारों की 'म-र' और 'रे-प' की संपति को मल्हार अंग की परिचायक मानेंगे।

आज 'मियां मल्हार' सर्वाधिक प्रचार में है। इसके पश्चात् 'स्वर मल्हार' तथा गौड़ मल्हार इन दोनों का स्थान है। कहीं-कहीं 'नट मल्हार और मेघ मल्हार' भी सुनने को मिल जाता है। किन्तु 'मीराबाई की मल्हार' 'रामदासी मल्हार', शुद्ध मल्हार, चरजू की मल्हार और धुलिया मल्हार, तो आज विरल है। सभी मल्हारों में मध्यम वादी तथा षड्ज संवादी स्वर है। सभी मल्हार के प्रकारों को वर्षा ऋतु में किसी भी समय गाने-बजाने को कहा गया है। सभी मल्हारों में वर्षा ऋतु का वर्णन मिलता है। ऐसा कुछ उदाहरण 'मेघदूत' में भी मिलता है।

मेधालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यकावृत्तिचेतः।
कंठाश्लेषप्रणयिनिजने किं पुनर्दूरसंस्थे।।

शोध छात्र, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

जयंत मल्हार

यह जयजयवंती और मिया मल्हार के संयोग से बना हुआ काफी थाट का राग है। इसके पूर्वांग में जयजयवंती और उत्तरांग में मल्हार लेकर अवरोह में जयजयवंती का भंग दिखाना चाहिए। यदि आरोह में जयजयवंती दिखलाना हो तो पूर्वांग में अर्थात् पंचम तक जयजयवंती का आलाप लेते हैं और उसके अंत में मल्हार मिलाते हैं।

जैसे - रे ग ग म ग रे, ग रे सा, नि़ सा नि़ ध़ नि सा।

पूर्वांग में मल्हार दिखाना हो तो आरोह पूर्णरूप से मल्हार कालेकर अवरोह के अंत में जयजयवंती दिखलाना होगा। जयंत मल्हार एक अप्रसिद्ध राग है। ऐसी मिश्र रागों में कौन से अंग कब कम दिखाना, कौन सी स्वर संगति आगे लानी है, यह बात कुशल नायक पर निर्भर रहती है। अग्रलिखित बंदिश में जयजयवंती तथा मल्हार का संयोग देखा जा सकता है।

जयंत मल्हार - एक ताल द्रुत

स्थायी

रे प	ग म	रे सा	नि़ सा	ध़ नि़	रे -
क हुं	का ऽ	स न	अ ब	स ज	नी ऽ
नि़ ध़	नि़ नि़	सा -	नि़ सा	ध़ नि़	प -
बि र	ह वि	था ऽ	मो रे	म न	की ऽ
म़ प़	नि़ ध़	नि़ सा	नि़ सा	ध़ नि़	रे -
स हि	न जा	ऽ त	सु ध	न लि	न्ही ऽ
×	0	2	0	3	4

अंतरा

प प	नी ध	नी नी	सां -	नी सां	नि सां
तो ग	ये ऽ	प र	दे ऽ	स वा	उ मं
रे गं	मं गं	रें गं	रें सां	नि सां	सांनि निध
गे मो	ऽ रा	जो ऽ	ब न	वा ऽ	छिऽ नऽ
धप पम	मग गर	रे ग	रे सा	ध़ नि़	रे -
छिऽ नऽ	छिऽ नऽ	जाऽ	त हो	र ज	नी ऽ
×	0	2	0	3	4

संदर्भ :

1. नाहर डॉ. प्रेमलता, हिन्दुस्तानी संगीत में सारंग, मल्हार एवं कान्हड़ा, पृ. 100

Scanned with OKEN Scanner

राग और रस का संबंध

कुमारी विभा

'The excellence in music will be judged by the standard its attains in Rasa-Siddhi

Babu Row Joshi.

रस संगीत का एक निम्न कोटि का माध्यम है जिसकी चरम स्थिति में केवल आनंद रस की प्राप्ति होती है। रस की इस स्थिति को अभिनव गुप्त ने 'नादब्रह्मवाद'' कहा है। नादब्रह्मवाद ब्रह्मसहोदर है।

शंकराचार्य ने कहा है,

Brahma is rasa and rasa is bliss. अर्थात् ब्रह्म ही रस है और रस ही आनन्द है। रस यदि बीज रूप है तो आनन्द उसका फल है। इस आनन्द रस में समस्त भौतिक रस विलीन हो जाता है और आत्मा पूर्णतः आनंदमय हो जाती है जैसा कि मुल्कराज आनंद ने भी कहा है।

He is rasa having abtained him the soul become full of bliss. वस्तुतः संगीत रस का वह निर्झर है जिसके रसमय जलकणों से भींगकर प्राणी आत्मविभोर हो उठता है तथा उसे अपार सुख-शांति तथा तृप्ति का अनुभव होता है। अतः कह सकते हैं कि रस या भाव संगीत का प्राण है।

रस शब्द रस धातु व 'अच' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है इसलिए विद्वानों ने इसे 'रस्यते इति रसः' कहकर इसकी व्याख्या की है। अर्थात् जिस वस्तु का स्वाद ले सके, चख सके, जिसकी रसानुभूति कर सके, वही रस है। अर्थात् जो बहे वह रस है। यह चार अर्थो में प्रयुक्त हुआ है-पदार्थो का रस, आयुर्वेदीय रस, भक्ति रस तथा साहित्य रस ।

शास्त्रज्ञों ने मानव जाति के अन्तःकरण में निवास करनेवाली विशिष्ट भावनाओं के सतोगुण प्रधान परमोत्कर्ष को ही रस कहा है। रस के सम्बन्ध में भरत ने कहा है -

विभानुभाव व्यभिचारी संयोणा द्रस निष्पत्तिः।

अर्थातः विभाव, अनुभाव व संचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है।

दशरूपक में धनंजय कहते हैं -

''विभावैरनुभावैश्च सात्तिवके व्यभिचारिभिः
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावों रसः स्मृतः।।

मम्मट कहते हैं-

''व्यक्तःस तै विभावधैः स्थायी भावों रसः स्मृतः''।

उपरोक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सहृदय पुरूषों के हृदय में वासना रूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव व संचारी भावों की चरम उद्दीपन से निष्पन्न होते हैं जो रस दशा को प्राप्त होता है।

संगीत में रसोत्पत्ति करने वाले निम्नलिखित तत्व हैं -

1. स्वर
2. लय
3. स्वर संगीत
4. काव्यात्मक तत्व
5. सांगीतिक प्रबन्ध
6. राग
7. राग का प्रस्तुतिकरण और कलाकार।

शोध छात्र, संगीत विभाग, ति.मा.भा.वि.वि., भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

स्वर रस के अनिवार्य अंग हैं, जिनके विना संगीत की कल्पना असंभव है। इसका स्वरूप द्विविध मान्य ग्रन्थ है :-

1. विषयीगत अर्थात् काव्य की कलात्मक अभिव्यंजना तथा
2. विषयीगत अर्थात् उक्त काव्य सौन्दर्य का आस्वाद। इसके निम्न स्वरूप हैं- रस, आस्वाद रूप है, अखंड है, लोकोत्तर प्राण है, ब्रह्मस्वाद, सहोदर है तथा सहृदय संबंध है। यह काव्य का प्राणतत्व है।

"रंजयति इति रागः" अर्थात् जिससे चित का रंजन हो वह राग कहलाता है। संचारी भाव तथा विभाव के माध्यम से स्थायी भाव के पक्वावस्था को रस कहते हैं। साहित्य में नौ रस माने गये हैं– श्रृंगार, हास्य, करूण, वीर, रौद्र, वीभत्स, भयानक, अद्‌भुत और शांत। ये नव रस मानव के अन्तःकरण में सदा विद्यमान रहते हैं पर संगीत में श्रृंगार, करूण, वीर और शांत इन्हीं रसों की अधिक प्रधानता है।

राग और रस का घनिष्ठ संबंध है। राग रस को उद्दीप्त करता है। जिस प्रकार प्रकृति का वाह्य उपकरण उद्दीपन का कार्य करते हैं उसी प्रकार विभिन्न रागों के स्वर भी विभिन्न रसों की सृष्टि करते हैं। षड्‌ज से वीर, अद्‌भुत और रौद्र रस, ऋषभ से वीर, अद्‌भुत और रौद्र, गन्धार से करूण, मध्यम से श्रृंगार और हास्य, पंचम से श्रृंगार और हास्य, धैवत से वीभत्स और भयानक, निषाद से करूण और शांत रस की उत्पत्ति होती है।

राग एक प्राणमय चैतन्य तथा सजीव वस्तु है, जिसके अवयव हैं स्वर। राग स्वरो की एकत्रित शक्ति का नाम है और स्वरों की इस एकत्रित शक्ति से ही रस का सम्बन्ध है। पं. भातखण्डे ने रसों का समावेश स्वरों के आधार पर किया है तथा रागों के तीन वर्गों में रसों की स्थिति बतायी है :-

1. कोमल रे-ध युक्त संधिप्रकाश राग :- इन रागों में शान्त तथा करूण रस की प्रधानता होती है। जैसे- भैरव, मारवा, जोगिया आदि।

2. शुद्ध रे-ध युक्त राग - इन रागों में श्रृंगार रस की ही अधिकता होती है जैसे- बिलावल, गोड़सारंग, देशकार, छायानट, विहाग इत्यादि ।

3. कोमल ग-नि युक्त राग :- ये राग वीर रस प्रधान होते हैं जैसे - आसावरी, मालकौंस, बागेश्री इत्यादि ।

स्वरों से रस की उत्पत्ति राग से लगने वाले स्वर की प्रधानता पर निर्भर है। राग का वादी स्वर यदि षड्‌ज होता है तो उस राग से वीर, अद्‌भुत या रौद्र रस की उत्पत्ति होती है। वादी स्वरों के अतिरिक्त जिन रागों में अन्य स्वरों की प्रवलता होती है उन्हीं के अनुसार षड्‌ज स्वर से कभी अद्‌भुत, कभी रौद्र और कभी वीर रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जितने राग हैं उन सबमें वादी स्वर, न्यास के स्वर तथा बहुत्व के स्वर के आधार पर एक राग से कई रस उत्पन्न होते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संगीत या राग जहाँ तक रससिद्धि का प्रश्न है, उसके लिए आवश्यक है, कलात्मक प्रेरणा, उसकी प्रतिभा, कल्पना, स्फूर्ति तथा प्रस्तुत करने का ढंग। रस विशेष भाव व्यक्त करने तथा रस प्लावित करने में समर्थ है, यदि उसकी अवतारणा उसके भाव, रूप व प्रकृति के अनुरूप की जाय। विशन स्वरूप के शब्दों में:-

'Of all the fine arts music is the most officancious in generating the desired emotions.'

संदर्भ :

1. जोशी प्रो. हेमलता, राग और रस, पृ. 46-48

Scanned with OKEN Scanner

वैदिक युग में संगीत

कुमारी कंचन

वैदिक युग भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का प्राचीनतम युग है। वैदिक काल ईसा से 2000 वर्ष पूर्व से प्रारंभ हुआ और 10वीं शताब्दी तक चलता रहा। यह युग प्रायः 700 ई. पूर्व से 800 ई. पूर्व तक माना जाता है तथा परिधि 3000 बी.सी. से लेकर 1 ईसा तक मानी जाती है।

भारतीय संगीत का सम्पूर्ण इतिहास चार भागों में विभाजित है - 1. अति प्राचीन काल 3000 ईसा पूर्व से 1000 ईसा पूर्व तक 2. प्राचीन काल 1000 ईसा पूर्व से 800 ईसा पूर्व तक 3. मध्य काल 800 ईसा पूर्व से 1800 ईसा पूर्व तक 4. आधुनिक काल 1800 ई. से 1988 ई. तक। पुनः भारतीय संगीत के इतिहास को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है - 1. ई.पू. समय 2. प्राचीन हिन्दूकाल 3. मुगलकाल। ई. पू. काल को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है - प्रथम सिन्धु उपत्तका की सभ्यता और द्वितीय वैदिक काल।

वैदिक काल भारतीय संगीत का अति प्राचीनकाल है। वैदिक काल का प्रारंभ आर्यों के आगमन से है। वे संगीतप्रिय थे। उनका संगीत काफी उत्कृष्ट था, जिनमें अधिकांश ईश्वर की आराधना थे। इस समय संगीत की दो धारायें थीं - शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत। यद्यपि इस काल के संगीत का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है तथापि वैदिक साहित्य के आधार पर संगीत का अनुमान लगाया जा सकता है। जिन ग्रंथों से वैदिक संगीत की जानकारी प्राप्त की जा सकती है वे निम्नलिखित हैं - 1. नारद शिक्षा, 2. मतंगकृत बृहदेशी, 3. सामवेद सभ्यता, 4. ऋक प्रति साख्य, 5. तैत्तरीय प्रति साख्य, 6. पाणिनी शिक्षा, 7. पाणिनी अष्टाध्याय, 8. संगीतमय वेद पाठ आदि।

800 से 1000 ई. पू. तक वैदिक मंत्रों का काल मानते हैं। वेद मंत्रों का उच्चारण संगीतमय था। उस समय संगीत प्रायः ब्राह्मण वर्ग में था और वे ही सर्वसाधारण में संगीत की शिक्षा दिया करते थे। अधिकतर नारियाँ गायन, वादन करती थीं। 'वीणा' को राज्यलक्ष्मी माना जाता था।

वैदिक युग में चार वेदों का विस्तार हुआ - 1. ऋग्वेद, 2. यजुर्वेद, 3. अथर्ववेद, 4. सामवेद।

1. ऋग्वैदिक काल में संगीत - ऋग्वेद वैदिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ है जिसमें 1017 सूत्र और 10 मंडल हैं। इस काल में गायन, वादन और नृत्य तीनों का विकास हो चुका था। गायन के साथ-साथ तीनों वाद्यों 'अवनद्ध, तंतु और सुपिर' का आविष्कार हो चुका था। नृत्य का कार्यक्रम खुले स्थानों में होता था जिसमें नर और नारी दोनों भाग लेते थे।

ऋग्वेद की रचनायें 'स्रोत' कहलाती थीं। गीत प्रबंधों को गाथा कहा जाता था। ऋग्वेद में आर्चिक संगीत एक स्वर का, गाथिक दो स्वरों का और सामिक तीन स्वरों का होता था जो अवरोह में क्रमशः गं, रें, सां था।

2. यजुर्वेद में संगीत - यजुर्वेद काल विशेषकर आर्यों के यज्ञादि का उत्कर्ष काल है जिससे मंत्रों का उपयोग यज्ञादि के अवसर पर कर्मकांड के लिए होता था। यह मंत्र गद्यात्मक होता था तथा उपांशु

शोध छात्रा, ति.मा.भा.वि.वि., भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

स्वर में उच्चारित होता था। इसमें सामगायन का प्रथम स्थान है जो विभिन्न ऋतुओं से जोड़ा गया है। जैसे - रथंतर साम का गायन वसंत ऋतु में, वृहत्साम का गायन ग्रीष्म ऋतु में, वैरूप का गायन वर्षा ऋतु में तथा शाक्वर और रैवत का गायन हेमन्त ऋतु में होता था। इस काल में साम गान के तीनों स्वर गं, रें, सां को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की संज्ञा दी गई है।

3. अथर्ववेद में संगीत - इस काल में भी साम वेदों के गान के अतिरिक्त गाथा, नाराशंसी, रैनी आदि लौकिक गीतों का गान विबाहादि प्रसंगों पर किया जाता था। अथर्व में गन्धर्व तथा अप्सराओं का दैवीकरण विशेष रुप में पाया जाता था। विवाह की मंगल कामना के लिए इन्हीं गन्धर्वों की प्रार्थना की जाती थी। वाद्यों में आघाट, कर्करी तथा दुन्दुभि का उल्लेख मिलता है।

4. सामवेद में संगीत - सामवेद काल पूर्णतया संगीतमय रहा। इसलिए इसे संगीत का मूल स्रोत माना गया है। इनके गेय छन्द थे। इसके मंत्र द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती थी। पहले साम गान में केवल तीन स्वरों का प्रयोग होता था - उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। आगे चलकर इन्हीं से एक-एक करके अन्य स्वरों की स्थापना होती गई और वैदिक काल में ही साम गान सात स्वरों में होने लगा।

जैसे - उदात्त, अनुदात्त, स्वरित,
नि,ग, रे,ध, स,म,प

यह निम्न दोहे से स्पष्ट होता है -

उदात्तों निषादगांधारो अनुदात्त ऋषभधैवतो।
स्वरित प्रभवा ह्योते शड्जमध्यम पंचमा।।

इसमें निषाद और गांधार स्वर उदात्त के अन्तर्गत, रिषभ और धैवत अनुदात्त के अन्तर्गत और षड्ज, मध्यम तथा पंचम स्वर स्वरित के अन्तर्गत हैं। पाणिनी, मतंग और नारद ने भी इन सातों स्वरों की पुष्टि की है।

सामगान के मुख्य तीन भाग होते थे - प्रस्ताव, प्रतिहार और उद्गीत। उनके तीन उपांग थे - हिंकार, उपद्रव व निधान। सामगान के दो रुप थे - आर्चिक और संहिता। आर्चिक में वेद की ऋचाओं के बोल थे और गान संहिता में केवल गीत के बोल थे। आर्चिक संहिता में कुल 800 मंत्र थे और गायन की संख्या 14820 थी। सामगान का आरंभ और अन्त 'ओम' से होता था।

सामगान चार भागों में विभाजित था - ग्रामगेय गान, अरन्यगेय गान, युह और युहिय। सामगान 5, 6 और 7 स्वरों के द्वारा किया जाता था। सायनाचार्य के मतानुसार, 'सामवेदे सहस्त्रं गीत्युपायां' अर्थात् सामवेद सहस्त्र गीत का उपाय है। वास्तव में साम ही अन्य वेदों के यथार्थ ज्ञान की कुंजी है - **'सामानि यो बेत्ति व बेत्ति तत्वम्'**

निष्कर्षतः वैदिक युग में 'सामगान के महत्व के साथ संगीत के तीनों विधाओं गीत, वाद्य और नृत्य का समाज में भरपूर प्रचार था। सभी वर्गों में इनकी साधना प्रचलित थी। तत्, सुषिर, अवनद्ध व घन चारों प्रकार के वाद्य मौजूद थे।' गान के विविध विधाओं जैसे - सामगान, गाथागान तथा लौकिक प्रकारों का प्रचार प्रचुर मात्रा में था। वैदिक काल की मान्यता रही कि 'संगीत की सत्ता से पृथ ईश्वर की सत्ता नही है' वास्तव में ईश्वर तक पहुँचने एवं दिव्यशांति के लिए संगीत का माध्यम आवश्यक है। अतः वैदिक युग संगीत बीजारोपण का मूल है।

Scanned with OKEN Scanner

उत्तर प्रदेश में प्रचलित सावन लोकगीतों में रस, भाव भाषा एवं संगीत

तृप्ति अग्निहोत्री

यह तथ्य सर्व सिद्व है कि आर्यावर्त भारत भूमि अपनी विविधताओं में मूल भूत एकात्मकता की भावना को सघन रूप से जोड़े हुए है। यह भारत है, और इसकी मूल भूत चेतना एक है। विभिन्न प्रदेशों से निर्मित भारत को एकात्मकता की डोर में बॉधनें का कार्य लोक साहित्य और लोक संगीत नें किया है। लोकसाहित्य और लोक संगीत का लोक शब्द संस्कृत अपभ्रंष, प्राकृत और हिन्दी सभी भाषाओं में मिलता है। वास्तव में लोकसाहित्य और लोक संगीत से ही संस्कृति का उद्भव हुआ है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम से न लेकर नगरो व गॉवो में फैली उस समूची जनता से लिया जाता है जो परिस्कृत रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझें जानें वाले लोगो की अपेक्षा आदि सरल और अकृत्रिम जीवन की अभ्यस्त होती है।[1]

डा0 सत्येन्द्र के अनुसार '' लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य के अहंकार से शून्य और जो परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।[2]

जब साहित्स राज प्रसादो के विलास कक्षो में बंद हो गया, प्रणय का पावनकारी मुक्तनाद, ग्राम बन्धुओं एवं ग्राम तरूणियों के कंठो से अमराइयों के बीच फूटा, तब साहित्य की सरस्वती श्रद्वामय होकर लोककंठ पर तरंगित हुई और संस्कृति तदर्थ विश्वासों और प्रेरणाओं का आधार लेकर मीरा की भक्ति के चरणों में घुंघरू बन गयी और ग्राम वासियों की दीवारों पर शिल्प बनकर उभरी और शिलाओं की जीवित अहिल्या का रूप दे दे दिया। और तव संगीत और वाघ उनकी हुंकार से मुखरित हो गये।

उत्तर भारत का प्रमुख क्षेत्र उत्तर प्रदेश समस्त प्रदेशों में प्रमुख स्थान रखता है। इस प्रदेश का लोक साहित्य और लोक संगीत भी विशेष स्थान रखता है। लोक संगीत लोक-निःसृत प्राकृतिक गाान है, जिसमें लोक मानस का सम्पूर्ण जीवन प्रणीत हुआ है। लोक संगीत जनसाधरण के हृदय में अवस्थित भावनाओं की अभिव्यंजना का सफलतम् माध्यम है।

लोक संगीत दो शब्दों में सम्मुचय है 'लोक'शब्द की व्युत्पतित्त के सन्दर्भ में विज्ञजन द्वैमत नही है। लोक शब्द संस्कृत के लोक दर्शानें में ''धन्'' प्रत्यय लगानें पर निष्पन्न हुआ है[3] इस धातु का अर्थ है- देखना! इसके लट्- लकार में अन्य पुरूष एक वचन का रूप ''लोकते'' होता है। इस प्रकार लोक शब्द का शाब्दिक अर्थ ''देखने वाला'' होता है।

ऋग्वेद में 'लोक'' शब्द का प्रयोग ''जीव'' के रूप में हुआ है।[4] महर्षि पाणिनि नें अपनें ग्रंथ अष्टाध्यायी में ''लोक'' शब्द में प्रत्यय करनें पर ''सर्वलौकिक'' शब्दों की निष्पत्ति होनें का उल्लेख किया है।[5]

व्यास मुनि ने ''लोक'' शब्द साधारण जनसमाज के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें ग्रामीण एवं नगरीय दोनों ही संस्कृतियां समान्वित रहती है।[6] पं. रामनरेश त्रिपाठी[7] देवेन्द्र सत्यार्थी[8], सुधांशु[9] तथा

शोध छात्रा, संगीत विभाग, एम.जे.रूहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली

Scanned with OKEN Scanner

वासदेव शरण शास्त्री[10] नें "लोक" का अर्थ ग्राम स्वीकार किया है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "लोक" का अर्थ केवल जनपद या ग्राम ही नही है, अपितु नगरों एवं गांवो में फैली हुई समूची जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नही है।[11]

इस प्रकार लोक संगीत का शाब्दिक अर्थ है- लोकमानस में प्रचलित संगीत। लोक संगीत को हम सहज संगीत भी कह सकते है, क्योंकि यह अनुकरण मात्र से ही सीखा जा सकता है। किसी भी प्रकार का शास्त्रीय बंधन एवं नियम न रहनें के कारण यह जनमानस को सहज ही सुलभ है।

संगीत को सात्विक प्रकृति अथवा हृदय के अर्न्तगत उठे हुए भावो को ठीक उसी रूप में व्यक्त करनें का माध्यम जब संगीत को बनाया जाता है, तब उसे लोक संगीत कहा जाना चाहिए।[12]

लोक संगीत की परम्परा अत्यन्त ही प्राचीन है। संभवतः सृष्टि के आरम्भ में मानव के नेत्रेन्मलिन के साथ ही इसकी परम्परा चल पड़ी थी। लोक संगीत की परम्परा अति प्राचीन काल से ही निर्बाध गति से प्रवाहित होती रही है। वाणी की शक्ति से सम्पन्न होने के उपरान्त आदिमानव के अन्तःस्थल से प्राकृतिक रूप में निःसृत जीवन की अर्न्तवेदना ही लोकसंगीत के रूप में प्रस्फुटित हुई है। इस प्रकार हम लोकसंगीत को मानव का सहजात भी कह सकते है।

एक काष्ठ से दूसरे काष्ठ तक मौखिक परम्परा के द्वारा प्रसारित लोकसंगीत में मानव समाज की समस्त अनुमूतिंया समाहित है। लोकसंगीत की प्रवत्ति सविभौमिक होती है। लोकसंगीत की रचना सामूहिक दृष्टिकोण लिए हुए होती है, इसमें व्यक्ति विशेष का कोई स्थान नहीं होता है। इसमें तो सम्पूर्ण समाज की ही छाया प्रतिविम्बित होती है। शिशु के प्रथम चरण से लेकर जीवन के अन्तिम चरण तक के समस्त मानचित्र लोकसंगीत में उपलब्ध होते है। लोकसंगीत तो सामान्य लोकजीवन की पार्श्वभूमि में अचिन्तय रूप में अनायास ही मानव हृदय में होने वाले मनोभावों की लयात्मक अनुभूति है।[13] लोकसंगीत मानवीय कृतित्व की वह सामान्य धरोहर है जो विश्वभूमि पर प्राप्त हुई है।[14]

इस प्रदेश में ब्रज क्षेत्र, अवध क्षेत्र, बुन्देलखण्डीय क्षेत्र और रुहेलखण्डीय क्षेत्र आदि अपने-अपने लोक जीवन से सम्बन्धित गीत और संगीत रखते है। अधिकांश लोकगीत ऋतुओं से सम्बन्धित है। ऋतुओं में वर्षा ऋतु रसराज श्रृंगार की मनमोहक भावनाओं से ओतप्रोत होती है। वर्षा ऋतु में दो मास सावन और भादों मास सम्मलित है। इन मासों के गीतों के प्रकार है- मल्हार, कजरी, सावन झूला, वारहमासा, चौमासा आदि है। इन लोक गीतों में रस, भाव, भाषा एवं सांगीतिक तत्व शोध के विषय है। ग्रीष्म ऋतु में ज्येष्ठ और असाद मास की तप्तता सभी प्राणियों को व्याकुल कर देती है। जिसके निराकरण के लिए प्रकृति नदी में वर्षा ऋतु का निर्माण किया है। वर्षा ऋतु जब आती है तो सर्वत्र हरीतिमा छा जाती है। मनमयूर अर्वचनीय आनंद की अनुभूति से भाव भिवोर हो जाता है। मनुष्यों से ही नही बल्कि पक्षियों के कंठ से भी स्वर लहरी निर्झर की तरह प्रवाहित होने लगती है। जहाँ एक ओर शास्त्रीय संगीत में वर्षा से सम्बन्धित अनेक रागरागनियाँ है, उसी प्रकार सामान्य जनमानस में वर्षा से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के लोकगीत प्रचलित है। उत्तर प्रदेश में सावन और कजरी यह दो वर्षा से सम्बन्धित गीत को लोकविधायें है। कजरी विशेष रूप से पूर्वी उत्तर प्रदेश (बनारस और मिर्जापुर) में गाई जाती है और सावन कन्नौज तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्रचलित है। ब्रज क्षेत्र में भी कजरी गाई जाती है, किन्तु उसकी धुन गनारसी एवं मिजोपुरी कजरी से भिन्न होती है। उसकी धुन रसिया की धुन कहनाती है। बन्दिश की ठुमरी के अप्रतिबिम्ब रचनाकार, ललनप्रिया ने अपने ग्रन्ध ललन सागर में अनेक कजरियां दी है।

सावन का प्रधान रस श्रृंगार है जिसमें प्रेमी और प्रेमिका संयोग या मिलन और वियोग या विरह प्रदर्शित होता है। सावन में वर्षा ऋतु की शोभा बादल, बिजली, कौंधा तथा विभिन्न प्रकार के पुष्पों से होती है। सावन के झूले की अपनी अलग ही विशेषता होती है। ब्रज क्षेत्र का एक झूला गीत निम्न है-

"झूला के परिगये अमता की डार पे जी।
ऐजी बिना सजना के घर अंगना न सुहाय।।

Scanned with OKEN Scanner

कजरी-

बदरिया बरसै रस की बूंद
किवरिया खोली री सजनी
रिमझिम रिमझिम मेघ बरेस, पवन चले झकझोर,
धर-धर कांप रहे अंग मोर।। किवरिया

सावन मास के गीतों में (मल्हार, कजरी, झूला बारहमासा, चौमासा आदि) स्वर योजना ताल-लय व शब्द योजना विशेष होती है। इस गीतों को स्वर सीमा संक्षिप्त होती है। सभी गीतों में किसी न किसी शास्त्रीय राग की छाया अवश्य ही दिखाई देती है। अधिकांश गीतों में पीलू, काफी, तिलक कामोद एवं झिझोटी रागों की स्वरावलियाँ ही अधिकतर प्रदर्शित हुई है। इनमें से कुछ लोकगीत ऐसी भी प्राप्त हुए है। जिनमें किसी राग के विशेष स्वर प्रयुक्त होने के उपरान्त भी उस राग का रूप पूर्णतः स्पष्ट नही होता है बल्कि वे सिर्फ धुन तक ही सीमित रहते है। अधिकतर लोकगीतों में दो तीन रागगीतों की छाया भी दिखाई पड़ती है। ऐसे कम गीत ही है, जिनकी कल्पना कदाचित ऐसी ही लोकधुनों से उत्पन्न हुई होगी। सावन मास के लोकगीतों के साथ लाल, कहरवा, दादरा और दीपचंदी, चांचर आदि ताले प्रयुक्त होती है। इन तालों के विभाग, ताली आदि का जो वजन है अथवा चाल है वह स्वाभाविक एवं सबोधगम्य है। यह ताले लोकमानस के भावों को सहज ही अभिव्यक्ति प्रदान करती है। लोकगीतों की शब्द योजना भी सहज और सरल होती है। सावन गीतों की भाषा पूर्वी उत्तर प्रदेश में सावन गीतों में ब्रजभाषा, कनौजी और खड़ी बोली प्रयोग की जाती है। सावन गीतों में भाव की प्रधानता होती है, शास्त्रीयता की नहीं। सावन गीतों में प्रयुक्त होने वाले वाद्ययन्त्र है- हारमोनियम, ढोलक, नाल, झांझ, मजीरा, करताल, ढपली, चिमटा, डक आदि।

संगीत हृदय का भोजन है। यह हृदय के तारों को झंकृत कर असीम आनन्द प्रदान करता है। संगीत का एक पक्ष लोकगीत- संगीत भी है। जो जीवन में सर्वाधिक रस घोलते है। इसके गायन-पाठन व श्रवण के माध्यम से भी आन्तरिक आनंद की अनुभूति प्रदान होती है। डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा कहते है-

"लोकगीत जीवन में सर्वाधिक रस घोलने वाले, 'मन' में मिठास भर देने में समर्थ और ऊपर से सरल, अनगढ़ से दिखाई देते हुये लोकगीत वैज्ञानिक विश्लेषण विवेचन के लिए, इतना सरल नही है। कारण सम्भवतः यह है कि ये 'लोक-मानस' के समीपतम् है।[15]

सावन गीत जहाँ एक और श्रृंगार रस से परिपूर्ण है। वही दूसरी ओर कुछ गीतों में वियोग श्रृंगार रस, वात्सल्य रस और शान्त रस का भी मिश्रण देखने को मिलता है। श्रृंगार रस रसराज माना जाता है। यह अत्यन्त मधुर, कमनीय तथा आनंद का प्राप्ति कराने वाला रस हैं। श्रृंगार रस के दो पक्ष है- संयोग और वियोग श्रृंगार रस। एक मल्हार में संयोग श्रृंगार-

"झूला तो झूले राधा प्यारी लाड़ली जी,
ऐसी कोई सखियां तो गावैं मल्हार।"

इस गीत में संयोग रस की प्रधानता है इसमें राधा कृष्ण के मिलन का भाव है। वियोग श्रृंगार से युक्त एक कजरी देखे-

"सखी री बायां नयन मोर फड़के,
सावन सैयां अइहैं ना सखी री,
जगहे हमरे भाग जहर सौतनिया खइहें न।"

इस गीत में वियोग रस की प्रधानता है एक सखी अपने प्रियतम के न आने पर दुखी है। सावन आ गया है पर उसका प्रियतम नही आया।

किसी के प्रति अपना प्रेम बनाये रखना वात्सल्य रस कहलाता है। जैसे माता-पिता, अपनी संतान के प्रति प्रेम, भाई का बहन के प्रति प्रेम। एक कजरी में देखें-

"कान्हा तोरी जांकी चितवनियां - ऐ रे सांवरिया,
मधु भरे सुरंग रसीले नयनता,
मौहें तोरी तनल कमनियां ऐ रे सांवरिया"

इस गीत में कान्हा बांकी चितवन, मधु भरे नयन आदि का वर्णन है। श्रीकृष्ण का सौन्दर्य वर्णन

Scanned with OKEN Scanner

है। इसका भाव है ईश्वर के प्रति अनुरक्ति, श्रृद्धा और विश्वास ही भक्ति है, इससे जो रस निकलता है वह भक्ति रस कहलाता है। यहाँ जो रस निकलता है वह भक्ति रस कहलाता है। यहाँ एक झूला प्रस्तुत है जो भक्ति रस से परिपूर्ण है-

"झूला धीरे से झुलावो, सुकुमारी सिया है।
झूला कंचन संजोए, लागी रेशम की डोर,
झोकां धीरे से लगावों, सुकुमारी सिया है।"

प्रस्तुत गीत में राम और सीता जी के झूला झूलने का वर्णन है। इसमें राम और सीता के प्रति भक्ति और अनुराग का वर्णन है।

उपर्युक्त श्रृंगार, वात्सल्य और भक्ति रस प्रधान सावन गीतों में ब्रजभाषा और अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है। इनकी शैली गेय है। सावन गीतों में प्रमुख रूप से श्रृंगार रस की प्रधानता है। पर कुछ गीतों में वात्सल्य व भक्ति रस भी अपना प्रमुख महत्व रखते है। इसके साथ-साथ इन गीतों के अर्न्तगत रस, भाव, भाषा शैली का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है।

उत्तर प्रदेश से मुखचरित सावन गीतों में साहित्यिक और सांगातिक तत्व महत्वपूर्ण है। इनमें प्रदेश की संस्कृति मुखरित होती है। हमारे जीवन में संस्कृति का प्रमुख स्थान है। लोकसाहित्य और लोकसंगीत दोनों ही भारतीय संस्कृति के दर्पण है। यह दोनों अत्यन्त मधुर, कर्णप्रिय एवं चिन्तानुरंजक हैं। इन गीतों में सात शुद्व व दो विकृत कोमल गंधार व कोमल निपाद स्वरों का प्रयोग मिलता है। सावन गीतों में सर्वाधिक राग पीलू का स्वरूप ध्वनित हुआ है। तदोपरान्त राग खमाज, काफी, वृन्दावनसारंग, तिलक कामोद, देश आदि रागों की मुख्य स्वरावलियाँ प्रयुक्त की गई है। इस भाव की दृष्टि से अधिकतर सावन गीत श्रृंगार रस के दोनों पक्षो संयोग और वियोग से भरपूर है। परन्तु वात्सल्य और भक्तिरस भी इन गीतों में विद्यमान है। अन्त में यह कहना अधिक समीचीन होगा कि उत्तर प्रदेश की संस्कृति से मुखरिज सावन गीतों में संगीतात्मकता और रसभाव अपने पूर्वी वैभव के साथ विद्यमान है।

संदर्भ :

1. जैन डॉ. शान्ति लोकगीतों का संदर्भ और आयाम, पृष्ठ 3
2. लोक साहित्य विज्ञान - प्रथम अध्याय पृष्ठ 3 भाग - 2 से उद्धृत।
3. सिद्वान्त कौमुदी, पृष्ठ 417 हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, नोडश भाग, पृष्ठ 1 से उद्धृत।
4. ऋग्वेद 3/53/14
5. "सर्वलोकाकाटठञ्" 5/1/44, अष्टाध्यायी।
6. "अनुशातिदित्वादुमयं पदवृद्विः" सार्वलौकिकः।
7. कवि कौमुदी, भाग 5 ग्राम गीत
8. "हंस" फरवरी 1936 "हमारे ग्रीम गीत"
9. जीवन तत्व एवं काव्य सिद्वान्त, ग्राम गीत का मर्म।
10. पृथ्वी पुत्र, पृष्ठः 85
11. द्विवेदी डॉ. हजारी प्रसाद, जनपद अक्टूबर 1952 पृष्ठ 165
12. कुमार सुनील , लोकसंगीत और वर्ण व्यवस्था, संगीत 1966
13. चिन्तामणि लोकायन, पृष्ठ 16
14. डॉ. सत्येन "हड़ौली" लोकगीत के प्राक्कथन से।
15. लेकावली विज्ञान भाग 2 से उद्धृत।

Scanned with OKEN Scanner

गुजरात की लोक परंपरा की धरोहर है गुजराती लोक संगीत

कुमार पंडया

संगीत देवो की भाषा है। संगीत आत्मा को परमात्मा से मिलाने का परम साधन है एवं मानव जीवन को नैतिक कर्तव्यों की ओर उन्मुख करता है। मनुष्य को सांसारिक विषयों से कई ज्यादा सुख संगीत से प्राप्त होता हैं जीवन की जटिल समस्याओं, चिंताओं और अशांति की स्थिति को शांत करने की सिद्धि संगीत में ही है, फिर चाहे वो शास्त्रीय संगीत हो, चाहे वो लोक संगीत।

हर प्रांत की खुद की विशिष्ट भाषा और शैली में, वंश-परंपरा से प्राप्त संगीत लोक संगीत है। इसी वजह से लोक संगीत हर प्रांत के विभिन्न प्रकार के लोक जीवन का आईना जाना जाता है।

शास्त्रीय संगीत शास्त्र के सभी नियमों के बंधन में रहकर प्रस्तुत करना पड़ता है। जबकि लोक संगीत बंधनों से रहित मुक्त झरने की तरह मानव कंठ से अस्खलित बह रहा है। सीधे-सादे स्वर, ताल और याद रह जाये जैसे सरल शब्दों की रचना जिसे बिना सीखे वंश, परंपरा में मानवों को मिली और मानवों ने संभाली हुई लोक धरोहर, यानि हमारा लोक संगीत।

लोक संगीत के स्वरों में भी ढेर सारी विविधता दिखाई देती है। लोक संगीत के श्रवण के बाद हम कुछ नवीनतम अनुभव करते है। शायद लोक संगीत गा रहे इन्सान को भी यह मालुम न होगा कि वह जो प्राचीन भजन या लोकगीत गा रहा है, उसमें वह द्वि या त्री श्रुति ऋषभ अथवा कोमल गांधार का प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार के गायन के लिये संगीतकार को कठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है।

शास्त्रीय संगीत प्राप्त करने के लिए संयम, कठिन परिश्रम करना पड़ता है। जबकि लोकसंगीत कम मेहनत से और पारंपरिक रूप से प्राप्त हो जाता है। लोक संगीत में एक समस्या भी है। वह यह है कि लोक संगीत प्रस्तुत करने वाले कलाकारों का कई ऐसा वर्ग है जो कि लोक गीतों के स्वरांकन को समझदारी पूर्वक नहीं गाते जिसके परिणामस्वरूप एक ही लोक गीत के स्वरांकन में बार बार बदलाव देखने में आया है। ऐसी अस्पष्ट बातों को दूर कर उसे स्पष्ट रूप देकर ही हम हमारी लोक संगीत की विरासत को संभालने के लिये समर्थ बन सकेंगे और इसमें छुपे हुए कई शोधकार्य आगे बढ़ा सकेंगे।

गुजराती लोक साहित्य ज्ञाताओं ने लोक संगीत की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि हम हमारे घर के आंगन में हमारी निगरानी में कोई पौधा उगायें नियमित रूप से उसमें पानी डाले तो वह पौधा दस या बीस साल के बाद वटवृक्ष बने तो ऐसे संगीत को हम अन्य संगीत की उपमा देंगे, जबकि जंगल में किसी भी निगरानी के बगैर अपने आप जो पौधा वटवृक्ष बने उसे हम लोक संगीत की उपमा देंगे।

भारत देश में गुजरात राज्य एक प्रांत है। लेकिन गुजरात में भी कई छोटे-छोटे प्रांत स्थित है। जैसे कि सौराष्ट्र, कच्छ, काठियावाड, सोरठ, झालावाड,

प्रवक्ता, श्री अजुर्नलाल हिराणी कॉलेज ऑफ जर्नालिज्म एण्ड परफॉर्मिंग आर्ट्स, राजकोट

Scanned with OKEN Scanner

वागड, हालार, वाराडी, गोहिलवाड, चरोतर, उत्तर गुजरात, दक्षिण गुजरात, आदि। गुजरात के लोक संगीत में भी अनेक गीत प्रकार गाये जाते हैं। जैसे कि लोकगीत, प्राचीन भजन, कीर्तन, रास, गरबा, दुहा, छंद, अठंगो, गरबी, हुडो आदि। उपरोक्त सभी गीत प्रकार अलग-अलग तरीके से गाये जाते हैं। इस गीत प्रकारों में से ऐसे कई गीत मिलते हैं जिसमें शास्त्रीय रागों की छाया दिखाई देती है।

गुजरात के प्रांतों के लोक संगीत में एक गीत प्रकार है प्राचीन भजन। जैसे शास्त्रीय रागों को गाने के अलग-अलग समय निश्चित है। वैसे ही प्राचीन भजनों में अलग-अलग भजन को निश्चित समय पर गाने की प्रथा है। प्राचीन भजन के कई प्रकार हैं जैसे - रामगरी, प्रभातिया, आराध, संदेशो, कटारो आदि। इनमें से एक प्रकार है रामगरी जो प्राचीन भजन ही कहलाता है। वह प्रातःकाल में गाया जाता है। सभी रामगरी प्राचीन भजन एक ही ढंग से गाने का प्रचार है। और उसके बाद प्राचीन भजन का प्रकार प्रभातिया गाया जाता है। प्रभातिया के स्वरों में हमें बिलावल राग के स्वरों की छाया दिखाई पड़ती हैं बिलवल राग की उत्पति गुजरात में ही मानी जाती है। गुजरात का ही एक प्रांत वेरावल जो कि प्रसिद्ध यात्राधाम ज्योतिर्लिंग श्री सोमनाथ के पास है। इस वेरावल प्रांत की लोकधुन को शास्त्रीय ढांचे में ढालकर बिलावल राग का निर्माण माना गया है।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत का भक्ति स्वरूप और पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर

आभा कुमारी

संगीत मानव की अनमोल उपलब्धियों में है। संगीत का आरंभिक उपयोग आदि मानव के द्वारा रंजन के रूप में ही हुआ होगा। भाषा ज्ञान से विहीन यायावर मनुष्य रूपी इस चेतन प्राणी के लिए स्वर ध्वनि के उतार-चढ़ाव ने रोमांचित किया होगा, भाषा बोध एवं आग्रह, अनुग्रह घृणा आदि की भावनाएं ध्वनि के विभिन्न काकु प्रयोगों से अनुभूति थी इन्हीं शब्द ध्वनियों के विस्तारित रूप कालांतर में रागानुभूति के आधार बने होंगे। अपने एवं कुटुम्बों के आर्थिक, शारीरिक एवं सामाजिक उन्नति की दृष्टि से परंपरा से मान्य आराध्य देव को पौरूषील मान कर स्थापित परंपरा के अनुसार की गयी अराधना ही भक्ति है। परिवार समाज के बुजुर्गों (पितरों) की सेना सुश्रुषा शारीरिक एवं भावनात्मक रूप से किया गया उनके अनुकूल भोज्य पदार्थ तथा वस्त्रादि देना भी भक्ति कहलाता है।

भक्ति के द्वारा ही अनेकों को मोक्ष की प्राप्ति की चर्चा हुई। आचार्य बृहस्पति ने लिखा है कि यह नहीं कहा जा सकता है कि कब किस व्यक्ति को वैदिक ऋचाओं के गान का विचार सूझा। परंतु यह अवश्य पता चलता है कि किसी काल में किसी युगपुरूष के मन में यह विचार आया था कि वैदिक ऋचाओं के प्रयोग से गाता और श्रोता दोनों को आनंद आया, अतः ऋचाओं का गेय रूप देवताओं के लिए भी प्रीतकर माना गया। यह विश्वास हो गया कि देवता न ऋक का आश्रय लेते हैं, न यजुष का अपितु वे ऋचाओं के स्वर संवलित रूप साम का ही आश्रय लेते हैं। ऋचाओं का वर्णन यजुष को यजन और साम को स्तुति का साधन माना गया। साम चारों वेदों में श्रेष्ठ कहा गया और भगवान कृष्ण के मुख से वेदव्यास के अनुसार यह शब्द निकले कि मैं वेदो में सामवेद हूं।

आचार्य बृहस्पति ने 'ध्रुवपद और उसका विकास नामक अपनी पुस्तक में वैदिक कालीन संगीत के संबंध में जो जानकारी दी है उससे भारतीय संगीत के भक्ति आधार की प्राप्ति होती है।

अतः ऋचाओं का गेय देवताओं के लिए भी प्रीतिकर माना गया। यह विश्वास हो गया कि देवता न वृक् का आश्रय लेते हैं न यजुष का, अपितु वे ऋचाओं के स्वर संवलित रूप "साम" का ही आश्रय लेते हैं, ऋचाओं को वर्णन यजुष को यजन और साम को स्तुति का साधन माना गया। साम चारों वेदों में श्रेष्ठ कहा गया और भगवान् कृष्ण के मुख से वेदव्यास के अनुसार यह शब्द निकले कि मैं वेदों में सामवेद हूं। वैदिक काल में "साम" का अर्ध संगीत माना जाता था।

स्वर नियोजित पद 'गाता' और 'इष्ट' दोनों को प्रिय था इसलिए भारतीय संस्कृति की प्रत्येक आध्यात्मिक सिद्धांतों एवं धर्म ग्रंथों में संगीत का उपयोग किया गया है। संगीत के माध्यम से मनुष्य का मन जल्द ही अपने आराध्य को भजने में रम जाता है इसलिए ही तो मध्यकाल के सभी भारतीय संतों ने धर्मप्रचार से लेकर आराधना के लिए संगीत को अपना माध्यम बनाया।

रामायण में साम तथा गांधर्व दोनों प्रकार के संगीत का प्रचार था सामगान का उपयोग यज्ञ के अवसर पर धार्मिक रूप से होता था तथा मनोरंजन के लिए गांधर्व शैली का उपयोग होता था।

शोधछात्रा, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि. दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

रावण सामगान के द्वारा शिव की आराधाना करता था ऐसा उल्लेख रामायण के निम्न श्लोक में मिलता है–

तुष्टाव वृषभध्वजम् ।
सामभिर्विविधैः स्तोस्त्रोः प्रणम्य से दशाननः ।

विभिन्न उपनिषद एवं ब्राह्मण ग्रंथों में संगीत के आध्यात्मिक स्वरूप की जानकारी मिलती है। **वृहदारण्यक में कहा गया है -**

ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोथय शतं पितृणां जितलोकानामाः नन्दः स एको गन्धर्व लोक आनन्दो ।

अर्थात् शतशः सम्मिलित पितृलोक के आनन्द से एक गांधर्वलोक का आनन्द श्रेयस्कर है, जो समस्त योगों से सम्पन्न तथा समृद्ध एकाधिपति नरेश को उपलब्ध नहीं हो सकता। संगीत से निष्पन्न होने वाला विशुद्ध आनन्दमय तथा ब्रह्मानन्द सहोदर हैं।

वैसे तो सूफी विचारधारा की पृष्ठभूमि इस्लाम का प्रचार या फिर भी सूफी दर्शन इस्लामी परंपरा तथा इनके कट्टरपन से स्वतंत्र था। इसमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच के प्रेम को स्थापित कर उन्हीं भावनाओं को प्रदर्शित किया जाता है। इस परंपरा में जीवात्मका को नायिका और परमात्मा को नायक मानकर नायकरूपी परमात्मा का नायिकारूपी जीवात्मा के मिलन या परिणाम का ही यत्र-तत्र चित्रण मिलता है। हिन्दु संस्कृति के वैष्णव कृष्ण भक्तों की परंपरा में महाकवि जयदेव रचित ''गीत गोविन्द'' में भी कृष्ण की गोपियों को जीवात्मा और कृष्ण को परमात्मा मानकर उनके बीच के प्रेममय मिलन के प्रसंगों का चित्रण मिलता है।

गीतगोविन्द की निम्न पंक्ति इसका उदाहरण है–

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलयसमीरे ।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कुजति कुंजकुयी रे।।

और इसी विचार को महान सूफी रचनाकार विचारक हजरत अमीर खुसरो की निम्न प्रसिद्ध पंक्ति में देखा जा सकता है –

छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाय के
प्रेम भटी का माधवा पिलाय के ।
मतवाली कर तीन्ही रे, मोसे नैना मिलाय के ।
बलि बलि जाउं मैं तोरे रंगरेजवा
अपनी सी कर लीन्ही रे मोसे नैना मिलाय के ।
खुसरो निजाम के बलि बलि जाइये
मोहे सुहागिन कीन्ही रे, मोसे नैना मिलाय के ।

सभ्यता के आरंभिक समय से ही मनुष्य संगीत के प्रभाव को जान चुका था तथा अपने अराध्य को भजने रिझाने के लिए संगीत का उपयोग करने लगा था। भारतीय परंपरा में भी विचारको एवं संगीत शास्त्रीय का एक बड़ा हिस्सा संगीत की उत्पति देवताओं से मानता है। जिस कारण भारतीय संगीत में भक्ति विषयक संगीत की समृद्ध परंपरा रही है। पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर इस युग के महान संगीत शिक्षक प्रचारक के साथ भारतीय संगीत की भक्ति परंपरा के संवाहक हुए हैं। जिनके भागिरथि प्रयासों से आधुनिक काल में मोक्ष दायिनी भारतीय संगीत का सात्विक और धार्मिक स्वरूप उभरकर सामने आया। पं. जी के पिता कीर्तनकार थे बचपन से ही इनपर भारतीय धर्म संस्कृति का प्रभाव था। इनकी शिक्षा ग्वालियर घराने के महान गायक मिरज दरबार के बालकृष्ण बुआ इचलकर रेजीकर से हुई थी। दरबारी संगीतज्ञ बनने की लालसा में संगीत का प्रचारक एवं आदर्श गुरू बनना अधिक पसंद था। अपने समय के राष्ट्रीय नेताओं महात्मा गांधी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, लाला राजपत राय, बड़ौदा की महारानी जमुना बाई, स्वामी सद्धानंद आदि लोगों से व्यक्तिगत संपर्क थे। विष्णु दिगम्बर जी ने गंधर्व महाविद्यालय नाम से 1901 ई. में लाहौर में संगीत विद्यालय की स्थापना की। संगीत विद्या को सुलभ बनाने हेतु स्वरलिपि का आविष्कार हुआ सैकड़ों संगीत पुस्तकें लिखी गई जिसमें बंदना संगीत, व्यायाम संगीत, प्रार्थना संगीत आदि थे। सारे जहां से अच्छा हिन्दुस्ता हमारा समूह गान की धुन सर्वप्रथम पं. जी ने ही बनाई थी, लाहौर में एक छापाखाना भी इन्होंने खोला। गंधर्व महाविद्यालय की दूसरी शाखा 1908 ई. में बंबई में स्थापित किया। पं. जी कांग्रेस के

Scanned with OKEN Scanner

राष्ट्रीय अधिवेशनों में भाग लेते रहे। विद्यालय भवन के निर्माण के लिए घर तक को भी गिरवी रखना पड़ा। अनेक कष्ट और परेशानियों को झेलते हुए पं. जी अपनी योजना में आगे बढ़ते रहे, सादा जीवन और उच्च विचार के अनुरूप इन्होंने उच्च चरित्र और अनुशासन बल के आधार पर असंख्य शिष्यों को तैयार किया जिनमें प्रमुख रूप से पं. विनायक राव पटवर्धन पं. नारायण राव व्यास, डी.वी. पलुष्कर (पुत्र) पं. ओमकार नाथ ठाकुर, मुख्य माने जा सकते हैं। ये लोग एक ओर जहां मंच के धुरंधर गायक थे वहीं एक कर्मठ शिक्षक और संगीत प्रचारक थे, जिनके सैकड़ों शिष्य आज भी संगीत के प्रचार में लगे हुए हैं। पं. जी ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना के साथ भजन गाना अधिक पसंद करते थे। श्रृंगारिक गीतों का इन्होंने बहिष्कार किया। इनके पुत्र डी.वी. पलुष्कर के गाए "पायो जी मैने राम रतन धन पायो" चलो मन गंगा जमुना तीर" आज मुझे रघुवर की सुधि आई, आदि आज भी भक्ति संगीत में आदर्श माने जाते हैं।

पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर ने जिस समय अपने अभियान का आरंभ किया था उस समय देश में चारों ओर श्रृंगारिक गीतों का ही बोलबाला था परंतु अपनी निष्ठा साधना और संकल्प के द्वारा पं. जी ने भारतीय संगीत के सात्विक एवं भक्ति स्वरूप कर स्थापित किया और इस तरह 20 अगस्त 1872 ई. में जनमें पं. विष्णुदिगम्बर पलुष्कर ने 21 अगस्त 1931 ई. को इस लौकिक शरीर का त्याग किया और इस तरह 59 वर्ष की आयु में ही इन्होंने भारतीय संगीत की संपूर्ण रूपरेखा को अपनी भक्ति विचारों से प्रभावित किया।

संदर्भ :

1. परांजपे शरतचन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास
2. शर्मा भगवतशरण भारतीय इतिहास में संगीत
3. बृहस्पति आचार्य, मुसलमान और भारतीय संगीत
4. बृहस्पति आचार्य, संगीत चिंतामणि
5. बृहस्पति आचार्य, ध्रुवपद और उसका विकास -
6. पलुष्कर विष्णु दिगम्बर - नरूला दर्शन सिंह, संगीत का लहराता सागर

Scanned with OKEN Scanner

Understanding Music : Sangitajna

Prof. Ritwik Sanyal

Apart from listening and performing, understanding of music plays an important role in the field of music. This is the CRITIC (samiksak) and the MUSICOLOGIST or PHILOSOPHER OF MUSIC (sastri, darsanik).

The critic aims at critical evaluation and is not just there to enjoy the music affectively. If he does so, it would be in the role of a listener. This would by itself be secondary and would not give him complete joy. This when integrated with understanding would give him the required satisfaction. He wants to make music not in just feeling Neither does he intend to make it in creation or performance which would imply a previous training in the skillful and technical knowledge for creating music.

The role of the SANGITAJNA is to have a theoretical knowledge, in complete understanding of the process and its enjoyment by the audience and to be able to give a value judgement.

In order to understand music as an art-object, aesthetic object and aesthetic experience, it is important for the SANGITAJNA to employ some devices. This is in two stages. Firstly he has to focus his theoretical attention on the performer and the audience or for the matter of fact on the whole musical situation. This is called critical prehension. Secondly his attention works and he has the reasoned judgement formulated in so many words on the performer and the audience. This is called theoretical realization. If the critic also happens to be a musicologist or philosopher of music, his evaluation may be more exact comprehensive.

A good critic does two kinds of criticism, descriptive and evaluative. In descriptive criticism, the critic aims at inducing his readers or audience to perceive the musical act as he perceives it. In evaluative criticism, he draws attention to definitive properties of appearance or through his description to he tries to justify his evaluation and to induce other people to adopt it.

However, it is not possible to draw a hard and fast line between factual description and evaluative judgement. So 'fact' need not be limited to reality viewed as subjectless-objectless events (prelogical), objects (commonsense) object-object relations (scientific) but also to reality viewed as subjects (logical), subject-object relations (philosophical), subject –subject relations (religious) and the sole subject (mystical). Phenomenologically considered, reality can be viewed in these seven stages occurring as objective facts within subjective consciousness. Consequently

Professor of Vocal Music, Banaras Hindu University

Scanned with OKEN Scanner

'fact' in the narrow sense stands for incipient values; and 'value' for a developed fact.

As Osborne says – "*It is pointed out that descriptive terms of criticism usually if not always contain implicit valuation while ascription of value apply to things as seen in a certain light or under a certain description.*"

This reminds us of two unresolved antinomies in the theory of criticism. One is that between taste and judgement ; the other between comparability and incomparability of an art work. It is generally accepted that aesthetic judgements are neither deductively arrived at theorems nor are they obtained by inductive generalization: they are reflections of tastes. Osborne suggests that the antinomy may perhaps be dissolved by recognizing that taste and aesthetic judgement " *represent two different modes of activity.*"The other antinomy arises from the need of evaluative criticism to compare two or more particular art works on the one hand and on the other hand from the uniqueness, which being a necessary element of its aesthetic value the work cannot be compared with another work of art:

Osborne adds -"*Works of art are regarded as configurations whose properties cannot be analytically reduced to or deduced from the properties of their constituent parts. They have overall qualities in common which can, up to a point be compared. But in so far as they are held to be unique, not merely in the sense that all configurations but in a sense in which their artistic value is bound up with their uniqueness, the application of general standards of aesthetic value to them become logically inappropriate.*"

For theoretical realization of music, the process of prehension (*avadhana*) must be undergone at the first instance. The final act of prehension is focusing one's attention from detached within on the aesthetic object and trying to savor the flavor . The critic may not savor the flavor but he has got to prehend the aesthetic object; this much the critic shares with the person who is out for felt realization only.

The critic has to achieve an extra feat, over and above the performer and the listener of music. He has to recollect the performer's aesthetic experience in tranquility and share it with him vicariously, necessarily in thought but not necessarily in feeling. The intellectual identification of the emotive and aesthetic type is important. Then only his understanding would be complete with no information gap in his understanding of it, in knowing its kind, character and value of the musical act.

The importance of SANGITAJNA in understanding music is multidimensional in character. Today in India, most of the critics are self- made persons. It is rare to find one who understands all the aspects of music, has also the sensitivity to good music and the ability ascertain and critically judge good and bad music. Similariy, it is difficult to find a good musicologist who has a complete and rational understanding of the musical systems, both in theory(*sastra*) and practice(*prayoga*) as an interpreter, erudite scholar and innovative professing for the posterity of musical knowledge.

References :

Aldrich Virgil. C., Philosophy of Art, N.J. 1963
Bharatamuni, Natyasastra Vol. IV, Baroda 1964
Osborne Harold, Aesthetics, Oxford 1972
Shringy R.K. and Sharma Prem Lata, Sangitaratnakara of Sarngadeva Vol.II, Delhi 2007

Scanned with OKEN Scanner

Literary Form of Art in Different Media

Trilok Singh Mehra

In the 20th century there was invented a new form of storytelling. Through on ingenious combination of small metal pieces, strips of celluloid, glass in the shape of lenses electric wiring , technological breakthrough was achieved that was destined to have tremendous effect upon the minds of millions of people.

Each era was discovered to have its own structure and possibilities; each imposed unique demands upon content and execution. The Greek play Wright, dramatizing the murder of Agamemnon, could prolong suspense in the consecutive flow of words, but the sculptor had to arrest tension in the simultaneous, frozen figures of the supers laocoon state.

Great minds from Aristotle to George Bernard show examined dramatic potential and limitation on the one hand, it was recognized that certain stories were more suitable for specific medium and on the other hand that the some story would have to be told differently in the various media.

In comparison with the slow development of the stage play, the motion picture has made enormous stride since its invention. The street of success lies not in some superficial appraisal of good or bad, but in some inner dynamic of the story. The novel or the stage play also tells a story but how do they differ from the motion picture?

For years this difference was a much discussed problem. Since all three can tell the same story the variation cannot be in what is not told nor can be the difference caused by the audience, because human being to whom the story is told may be the same in all three cases. Consequently the difference must lie in the form; for the form, that is the means by which the story is told differently in all three Art. If we want to find out about the nature of motion picture we must begin by investigating a particular form.

The form determined also the manner in which the story has to be told. This is true for the novel and the stage plays as well as for the motion picture. Moreover, the different forms in which a story is told have different effects. You might say that the novel tells the story through the eyes, the radio through the ears, and T.V. through the eyes and ears. Furthermore the different forms of art address themselves to audience of different kinds and sizes.

And even the story is itself is affected by the form. Not that it can be changed because the events represented should be

Lecturer, Department of Dramatics, Faculty of Performing Art, The M.S. University of Baroda.

Scanned with OKEN Scanner

true to life and not true to form. But since the manner in which the story is represented differs, not all stories can be represented in all forms.

The sole purpose of any language is to tell something style, rhythm , the beauty of words arrangements may be develop artistically still the language is never self sufficient, but remain in the series of what is told. For the within the space limited we have to tell the story.

The word 'space' is appropriate for the motion picture since its length can actually be measure by the yardstick. The novel does not know the conception of space in this sense. Its story can be told with less physical limitation. The author can end his work when he feels that he has said everything in the best possible way. But the theatre knows the powerful restraint which space puts upon its story because the play has a definite time of performance. Whether our story is short or too long, whether we would like to stop earlier or later, we cannot fit the length of the motion picture to the length of the story, but we must fit the length of the story to the space available. Thus space becomes the first factor determining our choice of story materials.

We find that the camera records sets, props, object and actors; and these elements can be shown in different lighting. With the exception of some title, the silent picture had no other means of expression; therefore there elements were able to reveal sufficient information.

The same element exists in the novel and the stage play, but there they are not capable of revealing sufficient information. The explanation is that the novel cannot represent them pictorially and in the theatre the amount of these elements is smaller than in the motion picture. For instance, the camera shows us many more sets than we see in the stage play the difference in number is so considerable that the set becomes on autonomous part which must be studied specifically.

Although these elements the set - , the props, the object , the actor- exist in the novel and the stage play, they gain new values and new importance in the motion picture become of its specific form , so much so that even the experienced novelist and the play Wright must study their new capacity for revealing information in adapting to this medium.

No other art has as many means of expression as the motion picture. Sculpture has only the plastic form, music has sound, painting has color and line, and the novel has the word. Even the theatre, which comes closest to the motion picture in this respect, has primarily only dialog. It is true that this dialogue comes to life by actors in sets, but the playwright will be little concerned about the time he writes the play. He knows that he must give almost all his information by dialogue, therefore a play can be understand by reading only the dialog where as the motion picture script will not make sense if you consider its dialog. The playwright is the primary creator in the theatre, because his writing or his dialog is practically the only essential means of expression.

The scene is defined as a section of the entire story in which certain happening occurs. Now every happening occur are a certain place and at a certain time consequently, place and time become elements of major importance in motion picture. The theatre, however, is closely tied to the conception of the scene. But its number of scene is so limited that place

Scanned with OKEN Scanner

and time cannot become a major influence. Let us assume that the classical play has about three to five scene and that the average motion picture has about thirty-five.

The important role which place plays in the motion picture results the fact that the camera can go to any location in this world, without any delay, it can show a scene in Africa , following it up with one in Asia. The theatre is limited in this respect. It cannot go to the place where certain events occur but must try to bring these events into places which can be represented on the stage.

The fundamental difference between place & time is that place remains or less the same while time never stays the same, not even from a second. Each development needs a certain amount of time. The measure of time contained in an action depends upon the kind of action.

In Radio the aim with all drama is for the original ideas to be re-created in the listener's mind and since the end result occurs purely within the imagination, there are few limitations of size, reality, place, mood, time, ore speed of transition. Unlike the visual arts where the scenery is provided directly, the listener to radio supplies his own mental images in response to the information he is provided. If the signposts are too few or of the wrong kind, the listener becomes disoriented and cannot follow what is happening.

In radio, scenes can be shorter than in the theatre, and the inter cutting between different situation is a simple matter of keeping the listener informed about where he is at any given time. This ability to move quickly in terms of location should be used positively to achieve a variety of contrast which itself adds to interest. Interest through contrast may be obtained by a variety of means, for example: Change of pace, Change of mood, Change of place.

When you open the dramatic works of Shakespeare, you find a number of words on white paper. These words were arranged in a certain order about four centuries ago. Today, they still have the almost unbelievable power of making us cry in certain places and laugh in others. Because they were arranged in such manner on to contain emotional stimuli, they have the effect of making us feel sympathy or hatred, of filling us with pity or honor. If such a transmission over hundreds of years can take place if generations and generations of audiences consisting of different kind of people are able to experience the same emotions, surely there must be laws and rules which effectuate such an amazing feat.

And if there are such laws and rules, it is likely that these are craftsmen who have mastered than. Indeed when we consider the creation by some of the best screen writers and direction we find that they have a very consistent 'track record' this very constancy proves that they are not just 'lucky' nor can their success be explained by talent alone. We the unvarying quality of their work also results from a deep knowledge of the film medium.

Reference :

1. The Technique of Screenplay writing - by Eugene Vale
2. Patkatha Lekhan – Ek parichay -by Manohar Shyam Joshi
4. Television in Making -by Paul Rotha
5. The Cinema as Art -by Ralph Stephenson & J.R.Debrix

Scanned with OKEN Scanner

The Bamboo Flute Magician

Santosh Kumar

While thinking of the "Bansuri – The Flute" a divine melody with a figurine of lord Krishna comes in the reminiscence. As it is opted with the God leaving a number of musical instruments, so it has mythological value also. Even in the western music's orchestra it resembles the supreme power, as mentioned by Banes Anthony in his book "A flute player leaning back comfortably in his chair often forcibly brings to mind the God pan resting against his forest tree and fluting magic spells".

The flute, the first instrument of the woodwind in the order of ceremonies, has a nature somewhat distinct from that of the other instrument of this section. It is most universally found and a common instrument of humanity.

The bansuri with its pastoral associations and as the chosen instrument of Lord Krishna, is one of the oldest musical instruments of India: it is mentioned in the Vedas and is depicted in the Buddhist art of 2,000 years ago. One Sanskrit verse credits the bansuri as the source of swarajnana - the knowledge of music.

It is most universally found and a common instrument of humanity. The cross flute believed by several accounts to originate in India as Indian literature from 1500 BCE has made vague references to the cross flute. In Natyashastra, Bharat has also described about the Bansi. He stated that this instrument is made up of bamboo on which notes were played similar to the notes of Veena. On that time two, three or four Shruti's were only played on the Bansi or flute. But Bharat (500BC – 300AD) didn't explain the sound production methods clearly. Matang (600 AD) the author of Vrihadeshi has also described Bansi in his book, but the Vadyadhyaya (Instrument Chapter) is not available. Therefore the explanations are not known. Abhinav Gupta commendation on Natyashastra has given evidence of the flute made up of iron, and Khair wood also. Sharangdeva (1300 AD) has given a detailed account of flute its fifteen types and playing techniques in his book 'Sangeet Ratnakara". Any of the music litereature of India with Vadyadhyaya must have an account of Banshi. According to Sharangdeva the flute should be made up of any of these; Bamboo, Tusk, Sandal, Iron, Bronze or silver. Scriptures of India reveal its legendary fame attribute to lord Krishna's playing on it in his childhood to enchant not only live-beings like the Gopis and Cows but

Research Scholar (NET), Instrumental Department, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University

Scanned with OKEN Scanner

even the nonliving objects by its divine melody.

As mentioned above the flute in India has been in the culture since early age of civilization but it had lost its status as a prominent instrument in Indian art music several hundred years before. One of the legends Pt. Pannalal Ghosh brought it to the forefront of Hindustani classical music in twentieth century. Pannalal's achievement is considered in the context of his time in terms of the social, political, economic, technological, and musical circumstances in India, and also named as Bamboo flute magician.

Biography of Pt. Pannalal Ghosh

Late Pandit Pannalal Ghosh
[31 July, 1911 - 20 April, 1960]

Pannababu, as he was respectfully addressed by the greats of his time, was born in 31 july, 1911 in a family of hereditary musicians in Barisal, East Bengal (now Bangla Desh). His father, Akshay Kumar Ghosh, a learned Sitarist, had studied under Guru Bhagwan Chandra Das, the well-regarded Sitarist of Dhaka, who represented the Senia Gharana. Pannababu's grandfather, Harakumar Ghosh, was a Dhrupad singer and Pakhawaj player. As a little boy, young pannalal use to listen sitar from his father and relaxes him from the work. Afterward he also studied Sitar from his father. He also learned music from his maternal uncle, Bhavaranjan Mazumdar who was a vocalist. According to some scholars the Ghosh family first lived in the village of Amarnathganj and later moved to the town of Fatehpur.

Young Panna (nick – name given by his mother, but real name being Amal Jyoti Ghosh) spent most of his childhood grazing the family cattle and playing on the simple folk – flute. As it is told about two fictional incidents happened to young Pannalal which had an influential bearing on his later life. First, at age 9 while looking for a stick, Pannalal found a flute floating in the river. He retrieved the instrument and so began his lifelong relationship with the bansuri. Two years later at age 11 Pannalal met a sadhu who held both a conch and a flute. The sadhu asked Pannalal if he could play the flute, and young Pannalal obliged. The sadhu gave him the flute and told the boy that music would be his salvation

On those days flute was used as an accompanying instrument or in folk music only. Young Pannalal was trying to bring the instrument among the classical music instrument like Vina, Sitar, Sarangi etc. But the tonal quality of the small flute was in high pitch which was not suitable.

There was a political unrest in 1928, and every youth was possessed with the freedom movement. Pannalal also joined this freedom movement. He enrolled in a gymnasium where he learned martial arts, boxing, and stick fighting and practiced physical culture. Pannalal was very fond of physical culture. He became the best student and champion of this gymnasium. He became more involved in the freedom movement and the British Government started keeping a watch on his movements. So at the age of seventeen Pannalal left Barisal and went to Calcutta in search of livelihood. In the teeming metropolis he found himself without any credentials except that he was a boxing champion and had won the All Bengal competition in boxing. With his skill as a boxer and martial art expert he landed a job as a coach in an athletic club. One

Scanned with OKEN Scanner

year later, at the age of 18, Pannnalal lost his father.In the early thirties, he migrated to Calcutta. In 1936 Pannalal began working with Raichandra Boral, music director of the well known 'New Theater', where he was appointed as a flute player. One year later he met his first guru, Kushi Mohammed Khan - the 'Harmonium Wizard'. Meanwhile, he also mastered the art of harmonium playing under the guidance of Khushi Mohammad. At this time Pannalal, who was already playing sitar, began to focus his attention on bansuri.

Economic necessity drove him into performing music for the silent films in Calcutta. At an All India music competition he met music director and composer Anil Biswas and began to play in his musical productions. It was during one such production when Anil Biswas was directing music for a dramatization of a work by the renowned poet Kazi Nazrul Islam that Pannalal decided that he needed a bigger flute who's pitch and sonority would be more appropriate for both classical and light music. He met an old Muslim toy vendor who was also proficient in making flutes. With his help Pannalal experimented with various materials including metal and other types of wood, but decided bamboo was still the most suitable medium for a larger instrument. He finally settled on a bansuri which was thirty two inches long, with a sa (tonic) at kali doe (the second black key on the old harmonium scale), as a flute of this size was up till now unknown. A rumor arose that Pannalal had surgery to cut the webbing between his fingers to facilitate the large span required to cover the finger holes of the instrument. Of course, he had no such surgery, but through dedicated riyaz (practice), Pannalal invented and perfected the technique to play the large instrument. At this time he would get his bamboo to make flutes from discarded packing materials found at Diamond Harbor, the large port of Calcutta. Deforestation had not yet consumed the forest around Calcutta, and the bamboo was believed to have grown close to the city itself. He practiced hard and perfected the technique of vocal music on flute. At this time he realized the need for meend from madhyama swar to nishad or dhaivat shrutis in ragas like Bihag, Yaman, Bageshree and many others. He experimented and invented the seventh hole of madhyama.

His quest for expanding his musical horizons led him to the acclaimed "Guru" in Bengal, Acharya Girija Shankar Chakravarti, from whom he received *taleem* in *Khayal*, *Thumri*, and other forms of vocal music.

He became famous for his flute playing and started getting performances at the major music conferences. At this time he came in close contact with great maestros like Ustad Inayat Khan (sitar), Ustad Dabir Khan (Been), Ustad Amir Khan (sarod), Ustad Badal khan (sarangi), and vocalists such as Ustad Faiyaz Khan, Ustad Abdul Karim Khan, Ustad Majid Khan, Pt. Tarapoda Chkraborty, Pt. Bhismadev Chattopadhyay and many others. His quest for knowledge and purity of tradition made him acquire intricacies of music from these scholarly musicians.

In 1938 as music director of the dance troupe of the princely kingdom of Seraikella state, Pannalal ji visited and performed in Europe, which he found

Scanned with OKEN Scanner

rather agitating and unsettling. Soon after his return to India his guru expired. Thereafter he underwent training from Girija Shankar Chakravarti.

In 1940, Pannalal moved to Bombay on the advice of his first disciple Haripada Choudhary (who had himself recently moved to Bombay). There he joined the Bombay Talkies film studio and gave music to quite a few films including 'Basant.' Panna Babu's wife, Parul Biswas, (sister of Anil Biswas), was a graceful singer of kirtans who became one of the first well known playback singers for the new 'talking' films. Pannalal first met the legendary Ustad Allaudin Khansahib, (reverentially known as 'Baba') in 1946, when Baba came to Bombay with his disciple, Pandit Ravi Shankar. Initially, when Pannalal asked Baba to teach him Khansaheb replied, "You are already great, you don't need to study more." Pannalal implored Baba to please teach him so that he could learn "authentic music and sur." In 1947, Pannalal's lifelong yearning to learn music from a true guru was fulfilled when Allaudin Khansaheb , convinced of Pannalal's sincerity to learn, accepted Pannalal as his disciple. Pannalal then accompanied Baba to his home in Maihar, where he received intensive taalim (training) from Khansaheb for the next six months. Under Baba's firm yet understanding tutelage, he blossomed into the wizard of the bamboo reed.

Panna Babu earned fame through his regular broadcasts on AIR (All India Radio) and his many live performances at music festivals throughout India. The eminent vocalists Ustad Fayaz Khan and Pandit Omkarnath Thakur appreciated his music very much and requested Pannalal to accompany their vocal recitals on bansuri. He was praised for his adaptation and rendering on the bansuri of the khayal-ang- gayaki (the classical vocal style), particularly influenced by the great master of the Kirana gharana, Ustad Abdul Karim Khan. Pannalal also incorporated alap, dhrupad-ang-gayaki, tantrakari, jhala, thumri, dadra and folk music into his performance style on bansuri. Well versed in tabla and rhythm, he would perform in such difficult tals as jhoomra and tilwara. His music was steeped in devotion and had an intangible unearthly element, huge emotional depth and was infused with spiritual greatness. In addition to introducing the larger instrument, Pannalal Ghosh is credited with inventing the bass bansuri and introducing the six-stringed tanpura, high-pitched tanpuri and the surpeti or sruti box into Hindustani music. He created and popularized several new ragas including Deepawali, Pushpachandrika, Chandramauli, Panchavati and Nupurdwani, as well as multitudinous vilambit and drut compositions in many well known and rare ragas.

Panna Babu practiced daily meditation and observed maun by not speaking on Thursdays. He took the vows of Ramakrishna and put his faith in music. He took Mantra Diksha from Swami Birjanandji Maharaj who was a direct disciple of Swami Vivekananda. Because of his intense spiritual practice he started losing interest in day to day life and decided to take Sanyasa. When he expressed his desire to Swamiji, his Guru, he was told that he would attain Moksha through music only. He should practice music as religiously as his spiritual practice. His music showed total spirituality, simplicity and purity.

As a person, he was very large – hearted and generous, warm,

Scanned with OKEN Scanner

compassionate and humorous. His younger brother, Nikhil Ghosh, an acclaimed Tabla player was an inseparable part of his musical journey. Panna babu's untimely breathed his last on April 20, 1960, at a very early age of 49 years only in Delhi; was a rude shock and a great loss to the world of music.

Although he, he had already left behind a large number of descendents and admirers. Amongst his noteworthy students and followers have been Haripad Choudhari, Aminur Rehman (Mintoo da), Fakirchand Samanta, Gaur Goswami, Shreeram Joshi, Rashbihari Desai, Mahesh Mastfakir, Devendra Murdeshwar, V.G. Karnad, Niranjan Haldipur, Lalitha Rao, Bhailal Barot, Prabhakar Nachane, Sharad Mohalay, K.D. Desai, Suraj Narayan Purohit, Hari K. Chabria, Mohan Nadkarni, and others. The current batch in "Pannalal Ghosh Tradition" is capably represented by Naresh Kumta, Harishchandra Kokare, Keshav Ginde, Nityanand Haldipur, Vijay Kabinittal, Lyon Liefer, David Philipson, Anand Murdeshwar, Ravindra Samant, Harshawardhan Kaulgi, Vishvas Kulkarni, and several others.

His phenomenal achievements in such a short life – span are just an indication of his musical genius. He was regarded as Magician of flute and will be immortal till the existence of Indian Concert flute.

Bibliography

a. Sambhamurthy P, The Flute
b. Jaiswal, Radheshyam, Bhartiya Shushir Vadyo Ka Itihas
c. Banes Anthony, Woodwind Instruments and their History, Faber & faber Ltd., Landon, third edition
d. Hamare Sangeet Ratn, Sangeet Karyalaya hathras.
e. www.pannalal ghosh.com, 08 may 2011, 12:00 am.
f. http://adagio.calarts.edu, 10 may 2011, 09:10 pm.
g. www.pannalalghosh.info, 11 may 2011, 11:00 pm.
h. http://www.indianetzone.com, 11 may 2011, 12:10 am.
i. www.wikipedia.org

Scanned with OKEN Scanner

Transcription and Analysis of Vocals

Parul Dixit

Transcription is a process used in Genetics Branch for creating a complementary RNA (Ribonucleic acid) copy of a sequence of DNA (Deoxyribonucleic acid). It is the first step leading to Gene Expression.

Transcription is the process of creating a complementary RNA copy of a sequence of DNA.[1] Both RNA and DNA are nucleic acids, which use base pairs of nucleotides as a complementary language that can be converted back and forth from DNA to RNA by the action of the correct enzymes. During transcription, a DNA sequence is read by RNA polymerase, which produces a complementary, anti parallel RNA strand. As opposed to DNA replication, transcription results in an RNA complement that includes uracil (U) in all instances where thymine (T) would have occurred in a DNA complement.

LEXICAL MEANING

- Transcription (service), a business which converts speech into a written or electronic text document.
- Transcription (software), software which helps (manually or automatically) converts speech into text transcript.
- Transcription (linguistics), the representation of speech in written form.
- Transcription (music), notating an un-notated piece, or copying / rewriting a piece for clarity or as an arrangement for another instrument.
- Medical transcription, documentation of patient medical records.

Transcription of Music is defined to be the act of listening to a piece of music and writing down musical notation for the notes that constitute the piece.

This means transforming an acoustic signal into a symbolic representation, which comprises notes, their pitches , timings, and a classification of the instruments used. It should be noted that musical practice does not write down the loud nesses of separate notes, but determines them by overall performance instructions.

Types of Transcription

- Monophonic Transcription:
  The term monophonic implies that only a single note is played by a single instrument or a voice is involved at once.

J.R.F/U.G.C, Research Scholar, Department of Vocal Music, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University.

Scanned with OKEN Scanner

- Polyphonic Transcription:
  The term polyphonic by contrast refers to situations where multiple notes may sound simultaneously, possibly played by many instruments.

Modes of Transcription:

- *Manual Transcription :*

It is well known that Indian music is based on an oral tradition. However, it is often erroneously presumed that this oral tradition precluded any musical notation. This is not the case; musical notation in India extends back to the Vedas. Musical notation, known as swar lipi has existed in India from ancient Vedic age up to the modern internet age. Hand written Transcription can also be described as Manual Transcription.

- *Automatic/Graphic Transcription*

This is a process of converting the vocal music into sheet music digitally by the means of melody tracker, spectrogram or software.

The automatic transcription of music is related to several branches of science.

- Psychoacoustics
- Computational auditory scene analysis
- Analysis of music instrument and human voices
- Digital signal processing.

Techniques of Automatic Transcription

- *Spectrogram*

Spectrogram analyzes the wav files in the form of Graphic representation in which Frequency axis (vertical axis) is set to Logarithmic, with its range from 100 Hz to 20000 Hz and time axis (horizontal axis) of the spectrogram is adjusted to match the duration of the recordings.

- *Software for Automatic Transcription*

Solo Explorer is automatic music transcription (recognition) and music notation software for Windows. It achieves high accuracy in extracting sequences of notes out of the audio records of solo performances.

Solo Explorer is designed as a complete music recognition environment. It offers the functionality you need to take a music recognition project from concept to completion in one package. We can open audio files or directly record your own solo performances. Once the audio is ready, we can launch Solo Explorer's wav to midi conversion engine to convert your audio to midi. Solo Explorer returns you a music score in a standard notation that can be played, edited, and saved.

Solo Explorer converts wav files to MIDI.

a It captures pitch, loudness, and performance effects (vibrato, portamento, glissando) of your solo recordings as faithfully as possible (music analysis, music composition).

b. It extracts music score out of your solo performances with the highest accuracy available with today's technology (music composition, ethnomusicology research, music transcription and typesetting, interface for content-based music retrieval).

Scanned with OKEN Scanner

2. Solo Explorer can show if your voice or instrument is in tune (music training, instrument tuning).

3. Solo Explorer is a robust and accurate pitch extraction tool (music and speech analysis, speech synthesis, intonation research).

4. Solo Explorer lets you play and experiment with music.

5. Solo Explorer cannot handle polyphonic performances (except for unison performances), i.e. audio that is a mixture of sounds coming from multiple sound sources.

Voice friendly :

Solo Explorer offers you unmatched accuracy in recognizing voice singing arbitrary lyrics. Though singing is the most natural way to enter the sound into a computer, the majority of existing wave to midi converters still have major problems with singing voice.

CONCLUSIONS

- Computer analysis and machine learning provides interesting new method of analyzing music. It allows many intuitive and qualitative observations to be made objective, precise and quantitative.
- Research with computational techniques lead to direct applications in music technology.
- Work requires collaboration between musicologists, computer scientists and electrical engineers.
- Intelligent music analysis is almost untried for Indian Music.
- Music researchers must help by building corpuses and un-notated datasets for future machine analysis.

Scanned with OKEN Scanner

संपादक
भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)
दरभंगा

प्रिय महोदय,

भैरवी के एक वर्ष (2 अंक) ..... तीन वर्ष (6 अंक) ...../-रुपए / पाँच वर्ष (10 अंक) ...../-रुपए का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ।

(हाँ, अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के 40/- रुपए उसमें अतिरिक्त जोड़ दें यानी चेक हमें 240/- रुपए का भेजें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफोन नं. .....

यहाँ से काटिए

चेक/ड्राफ्ट **संपादक, भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका), दरभंगा** के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें :

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो0 - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अंक आप भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका) के नाम मनीआर्डर भेजकर भी मंगा सकते हैं या फिर वी. पी.पी. से।

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड

Scanned with OKEN Scanner

Scanned with OKEN Scanner